बु.शि.
बुनियादी - शिक्षक
अंक १
१९६२

इस अंक के आकर्षण

प्रकाशक :

बुनियादी साहित्य प्रकाशन

ल ख न ऊ

बुनियादी शिक्षा में उत्पादक उद्योग-धन्धों का प्रमुख स्थान है। जिस क्षेत्र में जो उत्पादक उद्योग प्रचलित है उसी को शिक्षा का माध्यम बनाना उत्पादन एवं शिक्षण की दृष्टि से सफल होगा और तभी हमारे कदम शिक्षा में स्वावलम्बन के उद्देश्य की पूर्ति की ओर तेजी से बढ़ सकेंगे। ४४ करोड़ भारतीयों के लिए यही शिक्षा लाभकर एवं उपयोगी सिद्ध हो सकती है। जब आरम्भ से ही हमारी शिक्षा का आधार कोई उद्योग होगा तो यह स्वाभाविक है कि हमारे देश के शिक्षित नागरिक परिश्रमी और स्वावलम्बी होंगे। श्रम को शिक्षा में स्थान मिलने से ज्ञान और श्रम दोनों का सम्मान बढ़ेगा। देश में एक ऐसी शिक्षा का चलन होगा, जो उद्योग, बेकारी, वर्ग-संगठन—इस तरह की समस्याओं का स्वयं एक समाधान होगी। कठिनाई एक है—इस शिक्षा का संचालन कैसे किया जाय और नीचे से ऊपर तक इसमें एकरूपता कैसे लायी जाय। यह कार्य-क्रम, विचार और कुछ ऐसी जानकारी पर निर्भर है, जो शिक्षित वर्ग को उसी दिशा की ओर प्रेरित करे।

पक्के भवन के अभाव में छप्पर के नीचे अथवा पेड़ की छाया में बुनियादी शालाएँ काम कर सकती हैं। मेज, कुरसी, टाट, श्यामपाट के बिना भी काम चल सकता है। हम स्वच्छ स्थान में अपने बैठने की जगह का निर्माण कर सकते हैं। उसे फूल, फल तथा केले आदि वृक्षों से हरा-भरा एवं रमणीक बना सकते हैं; परन्तु अध्यापक के बिना कार्य का संचालन असम्भव है। शिक्षा रूपी शरीर में अध्यापक ही प्राण है। जब तक वह शरीर में है तब तक उसे सजाना और सुन्दर बनाना सार्थक है। यदि प्राण नहीं है तो शरीर मिट्टी है। बुनियादी शिक्षा की आधारशिला तो अध्यापक है। शेष सामग्री उसकी सहायता के साधन हैं। अध्यापक में जीवन का संचार हो और वह अनुभव करे कि जीवन और शिक्षण का घनिष्ठ सम्बन्ध है। गांधीजी इसी प्रकार की शिक्षा चाहते थे, जो जीविकादायिनी हो, और जिसमें स्फूर्ति और ओजस्विता हो। अध्यापक समाज का निर्माता है। बच्चों का मार्ग-दर्शक बनकर वह एक समाज की रचना करता है। उस समाज की क्या मर्यादा है; जीविका के क्या साधन हैं; वह किन विचारों को उच्च और किन्हें हीन समझता है; इसकी बुनियाद बच्चों के हृदय में अध्यापक ही डालता है।

अध्यापक की इस कार्यकुशलता और उसकी मान्यता को बढ़ाने के लिए एक सतेज उत्प्रेरक की आवश्यकता रही है, जो नियमित उपयोगी संकेतों से उसे सजग एवं सचेत बनाता रहे, ताकि वे अपने कर्तव्य के प्रति जागरूक रहें। स्वावलम्बी और परिश्रमी समाज के निर्माण हेतु बुनियादी शिक्षा के तत्व को समझते रहें। जहाँ यह उत्प्रेरक अध्यापक का सह-योगी होगा वहाँ उनका शिक्षक भी रहेगा। वह बुनियादी शिक्षा के विभिन्न पहलुओं की व्याख्या करेगा; अध्यापक के सामने सच्चे समाज का चित्रण करेगा; विभिन्न विषयों की अध्यापन-पद्धति को समझायेगा और तरह-तरह की नयी-नयी शिक्षण विधियों का प्रसंग उपस्थित करेगा। बुनियादी शिक्षा की कठिनाइयों पर ठोस विचार करना, सरकार की गति-विधि से शिक्षा जगत को परिचित कराना तथा व्यक्तिगत संस्थाओं द्वारा बुनियादी शिक्षा के प्रयोगों को अध्यापक तक पहुँचाना, इस उत्प्रेरक का कार्य होगा। हमें विश्वास है कि यह कार्य-भार 'बुनियादी शिक्षक' अपने कन्धों पर उठाने में सक्षम सिद्ध होगा। इसके सशक्त एवं सक्षम होने के लिए आप सबके सहयोग एवं सहकार की आवश्यकता है। हमें विश्वास है, 'बुनियादी शिक्षक' शिक्षकों और अभिभावकों के लिए उत्प्रेरक एवं मार्गदर्शक सिद्ध होगा।

शुभ कामना

शिक्षा के प्रति जनता में आज अभूतपूर्व जागृति है। लड़के, लड़कियाँ तथा छोटे बालकों को पढ़ाने-लिखाने की भावना भारतीय समाज में तेजी से बढ़ रही है। यह हमारे राष्ट्रीय गौरव एवं उत्थान का शुभ-सूचक है; परन्तु इसके साथ ही हमारा कर्तव्य भी बढ़ जाता है। हमारी शिक्षा समय के अनुकूल हो और वह भारतीय वातावरण में अमीर-गरीब सबके लिए सुलभ हो, इसका हमें ध्यान रखना है।

शिक्षा के सभी स्तर में कुछ सुधार कार्य किये जा रहे हैं। हमारी दृष्टि संसार के अन्य देशों की शिक्षा-विधि की ओर भी है। विज्ञान की शिक्षा पर हम पर्याप्त बल देने लगे हैं। शिक्षा का मापदण्ड ऊँचा करने के लिए हमारे देश के विद्वान प्रयत्नशील हैं। शिक्षा के संगठन में भी कुछ ऐसे परिवर्तन हो रहे हैं, जो विद्यार्थियों के लिए हितकर हैं; परन्तु सबसे मुख्य विषय तो शिक्षा की जड़ को सुधारना है। जब तक हमारे छोटे-छोटे बालक-बालिकाओं की शिक्षा में समुचित सुधार नहीं होता तब तक ऊपर की शिक्षा में सुधार का कार्य पूरी तरह सफल नहीं होगा।
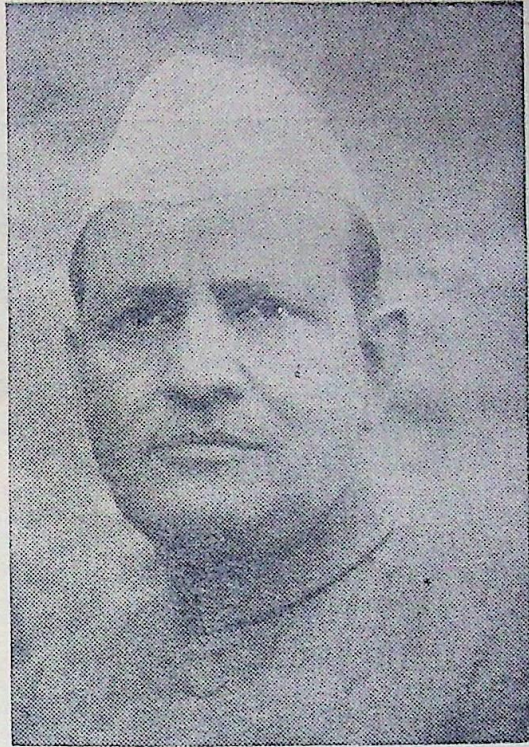
बुनियादी शिक्षा का प्रयोग हमारे राज्य में तथा अन्य राज्यों में भी चल रहा है। बालकों के लिए नर्सरी स्कूल भी खुल रहे हैं। बुनियादी शिक्षा के द्वारा हम बच्चों में सफाई, स्वावलम्बन तथा पढ़ने की रुचि पैदा कर रहे हैं। बेसिक शिक्षा-बोर्ड का निर्माण इसी उद्देश्य से किया गया है कि वह राज्य में बुनियादी शिक्षा के व्यापक प्रसार में सरकार को ठोस सुझाव दे। यह सम्पूर्ण कार्य कुशल अध्यापकों पर निर्भर है; इसलिए हम योग्य अध्यापक तैयार करें और उन्हीं के द्वारा शिक्षा को सफल एवं सजीव बनावें। 'बुनियादी शिक्षक' नामक मासिक पत्र यदि इस दिशा में कार्य करता हैं और शिक्षकों में नव-जीवन का संचार करता है तो वह शिक्षाजगत में उपयोगी सिद्ध होगा।

१९ नवम्बर १९६२ —जुगलकिशोर

उत्तर प्रदेश बेसिक शिक्षा-बोर्ड की पहली बैठक
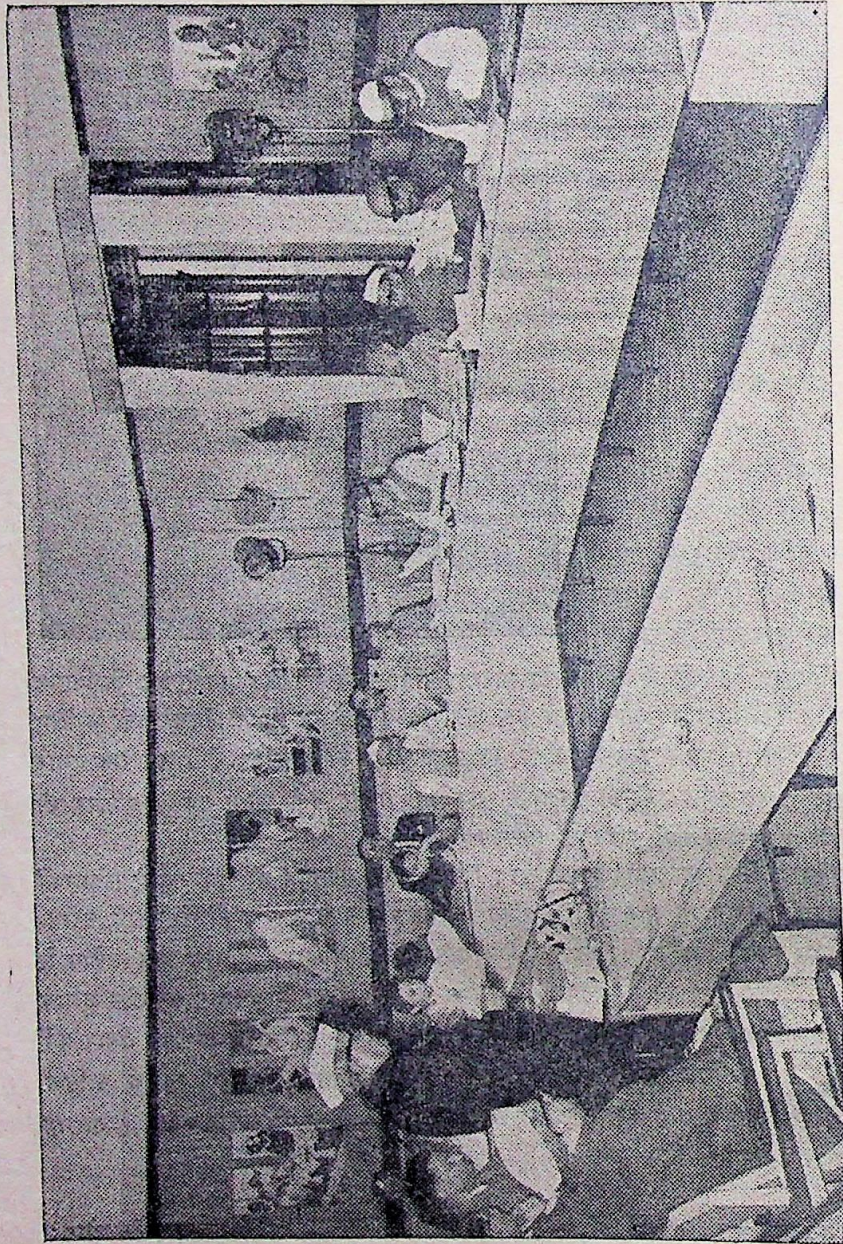
माननीय शिक्षा मन्त्री श्री आचार्य जुगलकिशोर जी उद्‌घाटन भाषण कर रहे हैं ।

धीरेन्द्र मजूमदार

सब से पहले हम इस बात पर विचार करें कि बुनियादी शिक्षा के लिए आवश्यक भूमिका क्या होनी चाहिए। जैसे कलाकार जिस प्रकार की भी तसवीर का निर्माण करना चाहे उसके लिए उसे सामान्य पटभूमि बनानी होगी। उसी तरह चाहे जिस पद्धति का शिक्षण हो उसके लिए एक सामान्य पट-भूमि की आवश्यकता है। इस पट-भूमि को हम वातावरण कहेंगे। वातावरण याने शिक्षा की हवा। हमें शिक्षा-शाला में शिष्टाचार, अनुशासन आदि की आवश्यक हवा पैदा करनी होगी। इस हवा को पैदा करने के लिए प्रथम साधन शिक्षा है तथा इस तरह पृष्ठ-भूमि की सफाई, लिपाई करने और चित्र बनाने का काम कलाकार करता है उसी तरह शिक्षा की हवा पैदा करना और शिक्षा प्रदान करना भी शिक्षक का ही काम है; इसलिए शिक्षक शिक्षा का प्रधान उपादान है।

शिक्षकों से अपेक्षायें--

जैसे शिक्षकों का स्वभाव और चरित्र में सबसे पहले गुरुत्व होना चाहिए। गुरुत्व का मतलब यह नहीं है कि शिक्षक हमेशा गम्भीर और भारी मुंह बनाकर बैठा रहे। गुरु शिष्य के साथ हमेशा खेलेगा, उसको प्यार करेगा। शिष्य भी गुरु के साथ हँसेगा, खेलेगा, गुरु को प्यार करेगा, उससे डरेगा नहीं; लेकिन हमेशा उसके गुरुत्व का अनुभव करेगा। शिक्षक के लिए दूसरी आवश्यकता निष्ठा की है। वह अपने काम के प्रति एकाग्र हो। बच्चों के विकास की निरन्तर कोशिश ही साधना है।

नयी तालीम के शैक्षणिक पहलू---

अब हम नयी तालीम के शैक्षणिक पहलू पर विचार करेंगे। बचपन से हम जो ज्ञान प्राप्त करते हैं उसका तरीका क्या हो और प्राप्त ज्ञान को कैसे टिकाऊ बनाया जाय, शिक्षा में ये ही दो प्रश्न मुख्य हैं। आज यह सर्वमान्य है कि प्रत्यक्ष अनुभव ही ज्ञान-प्राप्ति तथा उसको स्थायी बनाने का प्रामाणिक तरीका है। हाथी के विभिन्न पहलुओं पर चाहे हजार पृष्ठों की किताब पढ़ डालिए, लेकिन हाथी के बारे में आप का उतना सही ज्ञान नहीं होगा जितना हाथी को देखने से होगा। घर पर हाथी है तो बचपन से बड़े होने तक हाथी के बारे में बिना प्रयास से पूरी जानकारी हो जाती है। हमारे देश में जो ज्ञान-भण्डार संचित है उसका नाम दर्शन है। वास्तविक दर्शन से ही उसकी प्राप्ति हुई है।

यही कारण है कि वह ज्ञान अक्षय है इसलिए गांधीजी ने शिक्षा-पद्धति में जो नयी बात कही है वह यह कि जीवन के पुरुषार्थ में जो कुछ कर्म-सूची निहित है वही शिक्षा का माध्यम है यानी उसी में से मनुष्य का बौद्धिक तथा सांस्कृतिक विकास होना चाहिए। जीवन संघर्ष की प्रत्यक्ष अनुभूति से जो ज्ञान प्राप्त होगा वही सही ज्ञान हो सकता है न कि परोक्ष अनुभूति से प्राप्त ज्ञान। आज के शिक्षा-शास्त्री भी यही मानते हैं इस लिए वे नित्य नंये प्रयोग करते रहे हैं। 'किण्डर गार्डन प्रोजेक्ट' नाना प्रकार की पद्धति वास्तविकता की प्राप्ति के लिए बनाते हैं, लेकिन वे जीवन के हर एक विषय को कृत्रिम बना कर शिक्षार्थियों के सामने पेश करना चाहते हैं। इससे अनुभव वास्तविक याने प्रत्यक्ष नहीं होता। गाँधीजी जीवन-सँघर्ष के प्रत्यक्ष सहयोग से ही शिक्षा-प्राप्ति का मार्ग उपस्थित करते हैं। अगर प्रत्यक्ष जीवन-संघर्ष से बौद्धिक तथा साँस्कृतिक विकास के स्रोत का आविष्कार नहीं हो सकेगा तो कर्मभूमि अलग और ज्ञानमन्दिर अलग रहेगा। आज वैसा ही है। ज्ञान प्राप्ति के लिए ज्ञान मन्दिर अलग जगह हैं और कर्म के लिए अलग साधन हैं। जिसका नतीजा यह होगा कि समाज में ब्राह्मणवर्ग और शूद्रवर्ग अलग-अलग रहेंगे।

आश्चर्य की बात यह है कि आज देश और दुनिया के तमाम पढ़े-लिखे लोग कहते हैं कि जाति-भेद मिटना चाहिए, पर वह मिटेगा कैसे ? अगर कर्मभूमि से भिन्न ज्ञानमन्दिर और साँस्कृतिक गृह अलग-अलग रहेंगे तो निःसन्देह थोड़े ही मनुष्य कर्म-भूमि से छुट्टी लेकर इन मन्दिरों में प्रवेश पा सकेंगे। अगर आप यह कहते हैं कि सँसार से जाति-भेद और श्रेणी भेद मिटाना चाहिए तो कर्मक्षेत्र को ही ज्ञानक्षेत्र बनाना होगा। कर्म में से ज्ञान के विकास की जो पद्धति है उसी को समवाय शिक्षण-पद्धति यानी नयी तालीम कहते हैं।
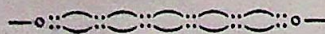
बुनियादी शिक्षा और शिक्षक

डा० जाकिरहुसैन

एक राज्य के सामने जो—अपने नैतिक भविष्य के बारे में चिन्ता करता है, दो लक्ष्य रहते हैं—पहला, आन्तरिक शान्ति और सुरक्षा, बाह्य आक्रमण के प्रति रक्षा और अपने नागरिकों के भौतिक तथा नैतिक स्वास्थ्य की देखभाल; दूसरा, जगत में एक मानव परिवार या मानव-जाति के एक संयुक्त संघ की स्थापना, जिसके लिए कारगर साधन है—स्तुत्य विचार वाले लोगों का सहयोग। अगर यह राज्य अपने सभी नागरिकों के सभी बच्चों की शिक्षा का भार अपने ऊपर लेता है तो ऐसा माना जा सकता है कि वह प्रत्येक व्यक्ति को अपनी योग्यता के अनुसार इन ध्येयों की पूर्ति में अपना हिस्सा अदा करने की शिक्षा देगा। नहीं तो वह सब लड़के-लड़कियों की शिक्षा की जिम्मेदारी क्यों लेगा और क्यों सबसे शिक्षा पाने की अपेक्षा करेगा? ऐसे अच्छे और उपयोगी नागरिकों के निर्माण के लिए ही राज्य शिक्षा देता है, जो इस दुहरे ध्येय की प्राप्ति में सहायक होंगे! वह शिक्षा का आयोजन उपयोगिता और नैतिकता दोनों दृष्टियों से करता है।

अनिवार्य शिक्षा के उद्देश्य

इस दुहरे ध्येय को सामने रखते हुए अनिवार्य शिक्षा के ये उद्देश्य हम मान सकते हैं:—पहला काम हर एक नागरिक को किसी न किसी उद्योग-धन्धे की शिक्षा देनी होगी याने वह अपनी योग्यता और रुचि के अनुसार समाज में कोई निश्चित काम करेगा। पहला उद्देश्य औद्योगिक शिक्षा होगा। अनिवार्य शिक्षा में निर्धारित वय की मर्यादा के अन्दर उसकी तैयारी की अच्छी से अच्छी शिक्षा यह एक उपयोगिता-प्रधान उद्देश्य जरूर है, लेकिन वही स्कूल के नैतिक तथा शैक्षणिक काम की बुनियाद भी है।

दूसरा उद्देश्य इस औद्योगिक शिक्षा को सिर्फ औद्योगिक न रख कर उसे नैतिक स्तर में ले जाना होगा और विद्यार्थियों के मन में बिलकुल स्पष्ट रूप से यह बोध पैदा करना कि उद्योग केवल आजीवका कमाने का साधन नहीं है; बल्कि एक सहकारी समाज में सार्वजनिक सेवा का माध्यम है और एक नीति-निष्ठ समाज-व्यवस्था की स्थापना और विकास के लिए इसका उपयोग होना चाहिए ।

अनिवार्य सार्वजनिक शिक्षा का तीसरा ध्येय समाज के बालकों के मन में अपने ही चारित्रय के निर्माण की इच्छा और क्षमता पैदा करने और उसके द्वारा समाज के नैतिक जीवन-स्तर को ऊँचा उठाने के मार्ग पर उन्हें अग्रसर करने का है । उसे यह अनुभूति होनी चाहिए कि एक उत्तम नीतिनिष्ठ समाज की कल्पना नैतिक दृष्टि से स्वतन्त्र व्यक्तियों के सम्मिलित प्रयत्न से ही प्राप्त हो सकती है ।

हमारी पाठशालाएँ कैसी हों ?

अब हम इस पर विचार करें कि इस ध्येयों को प्राप्त करने के लिए हमें कैसी शालाएँ चलानी होंगी । विद्यार्थियों को अपनी आजीविका के उपयुक्त काम सिखाने वाले उद्देश्य को शाला कैसे पूरी करेगी ? अगर आज की हमारी समाज-व्यवस्था पेस्टालजी के समय की स्विटजरलैण्ड की समाज-व्यवस्था की जैसी सरल होती या गांधीजी के आदर्शों के समान होती तो विद्यार्थी को एक उपयुक्त उद्योग सिखाने में शाला बहुत कुछ कामयाब होती; लेकिन देश में औद्योगिक विकास की बढ़ती हुई लहर ने इस प्रश्न को ज्यादा जटिल बना दिया है । इस जटिलता के कारण हमें रास्ता भूल नहीं जाना चाहिए । फिलहाल शिक्षा की अवधि सात या आठ साल की ही है और इतने अर्से में कोई भी शाला अपने विद्यार्थियों के लिए आवश्यक पूरा औद्योगिक शिक्षण नहीं दे सकती; इसलिए इस अवधि में ठीक मानसिक वृत्तियों और शारीरिक कुशलताओं के निर्माण का प्रयत्न ही प्रधान रहेगा; जो कि समाज में अपना उचित स्थान ग्रहण करने के लिए बालक को समर्थ बनायगा । उन स्कूलों से निकलने वाले अधिकतर बालकों को तो स्वाभाविक ही उन्हीं प्रवृत्तियों में लगना होगा, जिनमें शारीरिक परिश्रम की प्रधानता होगी ।

अब यह बात बिलकुल सर्वमान्य हो चुकी है कि आज के स्कूलों की किताबी शिक्षा उन बहुसंख्यक लड़के-लड़कियों के लिए उनके व्यावहारिक जीवन में किसी काम की नहीं होती है । उनके लिए कोई न कोई हाथ का काम ही शैक्षणिक प्रवृत्तियों का माध्यम बनना चाहिए । केवल बौद्धिक काम में लगने वाले अल्प संख्यक बालकों के लिए और कोई माध्यम सुझाया जा सकता था; लेकिन बुद्धिजीवी वर्ग के इस संशयास्पद दावे के अलावा कि उनके बच्चे भी बुद्धिप्रधान होंगे, जैसे बच्चों को अलग करके छाँटने का कोई आसान उपाय तो नहीं है । यह बात बिलकुल साफ है कि अधिकतर बच्चे तो सक्रिय प्रवृत्तियों में ही रुचि रखते हैं ।

इसलिए हमारा मदरसा तो एक काम का मदरसा होगा । बौद्धिक काम हाथ से किये जाने वाले शैक्षणिक काम का अभेद्य अंग ही है । यह काम का मदरसा बुद्धि-प्रधान तथा श्रम-प्रधान दोनों प्रकारों के लिए शिक्षा की बुनियाद तैयार करेगा । अगर ठीक प्रकार से संगठित किया गया तो वह देहातों तथा शहरों दोनों के लिए उपयुक्त होगा । कृषि-सम्बन्धी व औद्योगिक धन्धों के लिए और बौद्धिक एवं शारीरिक प्रवृत्तियों के विकास के लिए उपयुक्त पाठशाला होगी । उसमें से निकलने वाले विद्यार्थी अच्छा काम करने तथा युक्तियुक्त विचार के आदी होंगे । अपने काम से सम्बन्धित समस्याओं को सुलझाने से उनकी विचार-शक्ति पुष्ठ होगी ।

वे जो भी काम हाथ में लेंगे उसे करने के उत्तम तरीके ढूंढेंगे, पूरी श्रद्धा और मेहनत से उसे करेंगे और काम पूरा होने पर उसकी खामियों और खूबियों को परखेंगे और उनके बारे में सोचेंगे, आत्मसमीक्षा करेंगे । इन सब अनुभवों से उन्हें स्वतन्त्र और वस्तुनिष्ठ रीति से सोचने की आदत होगी । हम लोगों में से अधिकतर को इससे कहीं अधिक लम्बे समय में उस से भी कम शिक्षा मिली है, जो हम अपने काम के मदरसों के द्वारा बालकों को देना चाहते हैं । मुझे इस बात पर कोई शंका नहीं कि एक अच्छा काम का मदरसा इन लक्ष्यों को पूरा करेगा । अगर अभी तक काम के मदरसे आमतौर पर इन नतीजों तक नहीं पहुँच पाये हैं तो उसका यही कारण है कि हमारी पीढ़ी को शिक्षा काम के जरिये नहीं मिली है ।

मेरा नम्र निवेदन है कि दूसरे ध्येय की प्राप्ति याने सारी प्रक्रिया को एक नैतिक अनुभव और नैतिक शिक्षण बनाना शालाओं को सह-जीवन पर आधारित कर्म-निष्ठ समाजों के रूप में संगठित करने से ही हो सकती है । यह समाज उसके सदस्यों के आदर्शों के मूर्तरूप बनने चाहिए । अज्ञात की खोज में प्राकृतिक और ऐतिहासिक तथ्यों के अध्ययन में सुन्दरता के सृजन और उससे आनन्द पाने में स्वस्थ, स्वच्छ जीवन में असहाय की सहायता करने में अपने कर्तव्य को यथा-सम्भव उत्तम तरीके से निभाने में साथियों के साथ कन्धा मिला कर काम करने में और कितनी ही बातों में ये समाज सहकारी जीवन के सुन्दर नमूने हो सकते हैं । ऐसे समाज में काम अपने आप सेवा बन जाता है । वह चारित्र्य निर्माण की बुनियाद होता है । उस कार्य-व्यस्त वातावरण में बच्चों के अन्दर ये सामाजिक बोध और परस्पर सहयोग की भावनाएँ विकसित होंगी, जो कि उच्च चारित्र्य के निर्माण में मूल्यवान साधन होती हैं ।

जिन बच्चों ने ऐसे वातावरण में जीने व काम करने के अवर्णनीय आनन्द और तृप्ति का बोध अनुभव किया हो वे बाद के जीवन में भी उसे पाने का प्रयत्न अवश्य करेंगे । सारे विश्व में आज ऐसे शाला-समुदायों के प्रयोग हो रहे हैं । हम अगर अपने आगे के काम को गम्भीरता के साथ लेते हैं तो हमें भी इस ओर प्रयत्न करना पड़ेगा; बल्कि प्रयोग के साथ साथ खर्चीले पब्लिक स्कूलों तक सीमित न रख कर इस देश के हर बच्चे के लिए हमें इस तरह के स्कूल चलाने होंगे । हमारे अच्छे से अच्छे शिक्षा शास्त्रियों को इस अनिवार्य शिक्षा के सब स्कूलों को सच्चे कर्मनिष्ठ समाज का रूप देने के बारे में दिमाग चलाना चाहिए ।

तीसरा ध्येय है—विद्यार्थियों में शिक्षा प्राप्त करने की प्रेरणा पैदा करना। उसकी आवश्यकता महसूस कराना, जिससे वह अपने चरित्र को और समाज की नैतिकता को ऊँचा उठा सकें। इतनी छोटी उम्र में उसका आरम्भ मात्र ही हो सकता है और अगर १४ साल के पहले उनकी पढ़ाई बन्द कर दिया तो आरम्भ करने का भी मौका नहीं रहता।

एक लचर दलील—

हमारे संविधान में अनिवार्य शिक्षा की अवधि १४ साल तक निश्चित की गयी है। प्रारम्भ कब होना चाहिए, इसके बारे में कोई निदश नहीं दिया गया है। मैं सात से चौदह साल की शिक्षा को न्यूनतम आवश्यक अवधि मानता हूँ। हालाँकि उससे पहले शुरू करने का पक्ष काफी मजबूत है; लेकिन कहा जाता है कि देश के सब बच्चों के लिए इतने काल की अनिवार्य शिक्षा का भार उठाने की आर्थिक शक्ति आज हमारे पास नहीं है। इस दलील से मैं सहमत नहीं हूँ। अगर हम ने निश्चित रूप से मान लिया कि यह काम हमें करना है तो उसके लिए रास्ता भी निकाल ही सकते हैं। फिर भी मान लिया कि फिलहाल ऐसी लाचारी है कि हम पाँच साल की ही अनिवार्य शिक्षा का प्रबन्ध कर सकते हैं तो यह अवधि ९ से १४ तक की होनी चाहिए, न कि ६ से ११ तक की। १४ साल के पहले उसे बन्द करना एक स्वतन्त्र समाज में अनिवार्य शिक्षा चलाने के उद्देश्यों को ही परास्त करना होगा।

हमारी कतिपय कमियाँ—

हमारे देश में ऐसे काम के मदरसे, जिन्हें बुनियादी विद्यालय कहते हैं, शुरू करने का जो प्रयत्न हुआ है उसके बारे में अब कुछ कहना चाहता हूँ। मैंने उन स्कूलों का काफी निरीक्षण किया है और जो प्रभाव मेरे मन पर पड़ा है उसी के आधार पर मैं यह विचार प्रकट कर रहा हूँ। यह नहीं कि मैंने देश के सब विद्यालय देखे हों और इनका कोई व्यवस्थित अध्ययन किया हो; लेकिन बुनियादी शालाओं से क्या अपेक्षा की जा सकती है और उनके सफल होने की कभी आशा है, इसकी मुझे कुछ कल्पना है और मैंने ऐसे नमूने भी देखे हैं। मेरी राय है कि जो सफलता उन संगठित काम के मदरसों से आसानी से प्राप्त होनी चाहिए थी वह उन से नहीं मिल पायी है। इसके कारण हैं। उनमें से अधिकतर संगठन से सम्बन्धित हैं; लेकिन एक महत्वपूर्ण शैक्षणिक कारण है—काम के प्रति जिस शैक्षणिक वृत्ति और तैयारी की अनिवार्य रूप से आवश्यकता है वह आमतौर पर दृष्टिगत नहीं होती। हम ने तथाकथित बौद्धिक शिक्षा के स्कूलों को भी लड़कों से रटा-रटा कर कुछ बातें, उनका मतलब समझे बिना ही, याद कराने के स्थान बनाये हैं। किसी को इसकी चिन्ता नहीं है। एक कुत्ता तक नहीं भौंका, और—खुदा हाफिज, इन स्कूलों की संख्या हजारों की तादाद में बढ़ती ही गयी।

इसी प्रकार हम कई बुनियादी विद्यालयों को भी मात्र यान्त्रिक काम का स्थान बनाने में सफल हुए हैं। काम बाहर से, और सब के लिए एक जैसा निश्चित किया हुआ होता है।

उसमें बच्चे की स्वयंप्रेरणा का आभास मात्र नहीं है। उस काम के व्यक्तिगत या सामाजिक उद्देश्यों के बारे में वह एकान्त अज्ञता में रहता है। काम शुरू करने में कौतूहल या हाथ से कुछ करने के मजे के अलावा उसे कोई प्रेरक तत्व नहीं दीखता। जैसे बताया जाता है वैसे वह करता है। उसके सामने कोई समस्या नहीं, जिसे सुलझाने में उसे दिमाग लड़ाने की जरूरत पड़े। उस काम से निकलने वाली समस्याओं के बारे में वह सोचता भी नहीं। आखिर सोचेगा भी क्यों ? क्योंकि उसके सामने समस्या है ही नहीं। उसे अमुक तरीके से करने के लिए कहा जाता है। शिक्षक के साथ कोई नया तरीका ढूंढ निकालने का आनन्द भी उसे नहीं मिलता। उसको कभी-कभी काम करना होता है, नियमित रूप से नहीं। और, जो उस से काम कराते हैं वह काम अच्छा हुआ या बुरा, इसकी चिन्ता ही नहीं करते।

इस तरह के काम का नतीजा वही होता है, जो हो रहा है। जैसे कि मैं कह चुका हूँ, शिक्षा का काम उन प्रवृत्तियों को अधिकाधिक सुन्दर और सुचारु बनाना है और जब तक काम उत्तम रीति से सम्पन्न नहीं होता है तब तक सन्तोष नहीं मानना है। यान्त्रिक रूप से किया जाने वाला काम, जिसमें बुद्धि का उपयोग नहीं है, उन्नति के लिए कुछ प्रेरणा नहीं है— वह काम जिसमें आत्मसमीक्षा और प्रगति नहीं है, किसी भी माने में शैक्षणिक नहीं होता है। जिन शालाओं में ऐसा काम होता है उन्हें बुनियादी विद्यालय नहीं कह सकते।

और भी कई मुश्किलात हैं, जिनका संगठन से वास्ता है। यहाँ मैं दो का ही जिक्र करूं। भारतीय शिक्षा के शान्त सुप्त अन्तरिक्ष में कई दफे ये बुनियादी स्कूल अनामंत्रित आगन्तुक माने जाते हैं। बुनियादी विद्यालयों से निकलने वाले लड़के-लड़कियों को प्रचलित विद्यालयों में प्रवेश मिलना कठिन या असम्भव ही होता है। जिस कारण उनके लिए विशेष उत्तर-बुनियादी विद्यालय चलाने पड़ते हैं और वे संख्या में बहुत कम हैं और जब वह बालक उत्तर-बुनियादी शिक्षा खत्म करता है तो-भी उसे किसी विश्व-विद्यालय में प्रवेश नहीं मिलता है। जिस शिक्षा-पद्धति के बारे में सरकार घोषणा करती है कि वह राष्ट्र की सारी प्राथमिक शिक्षा में पूर्ण रूप से और माध्यमिक शिक्षा में आंशिक रूप से मानी गयी है उस पद्धति से और सरकार ही के द्वारा चलाये जानेवाले विद्यालयों में १२ साल शिक्षा प्राप्त करने के बाद एक लड़का विश्वविद्यालय में नहीं जा सकता है; क्योंकि सरकार विश्वविद्यालय से उसे प्रवेश देने के लिए नहीं कह सकती। विश्वविद्यालय स्वतन्त्र सँस्थाएँ हैं और मैं भी उनके इस निर्णयाधिकार का समर्थक हूँ; लेकिन जो विद्यार्थी हजारों की तादाद में प्रचलित माध्यमिक शिक्षा पूरी करके निकलते हैं और जैसे कि विश्वविद्यालयों के संचालक स्वयं कहते हैं कि इनमें से अधिकांश विश्वविद्यालयों की शिक्षा से कोई लाभ उठाने योग्य नही होते; उन्हें तो प्रवेश का निषेध होते हुए नहीं दिखाई देता। उत्तर-बुनियादी विद्यालय का स्नातक, जिसने उनसे दो वर्ष अधिक शिक्षा पायी है उसे यह हक हासिल नहीं होता है। क्यों ? क्योंकि विश्वविद्यालय स्वतन्त्र संस्था है। यह स्थिति देश की शिक्षा-व्यवस्था में समन्वय का दुखद अभाव दिखाती है।

एक सामान्य सन्तोष—

फिर भी ये बुनियादी विद्यालय दूसरे विद्यालयों की तुलना में अच्छे शिक्षा संस्थान हैं। इसका कारण यह है कि आसपास के समाज से और जिन्दगी से वे उतने विच्छिन्न नहीं रहते हैं; क्योंकि छोटे-छोटे शैक्षणिक समुदायों के रूप में कुछ विशिष्ट मूल्यों को दृष्टिगत रख कर उन का संचालन होता है। उनका काम शैक्षणिक कमियों के बावजूद भी कुछ हद तक उस उम्र के बच्चों की जरूरतों के अनुसार है; इसलिए वे उन बच्चों में कुछ गुणों का विकास कर पाते हैं; लेकिन जब तक हमें उन्हें शैक्षणिक काम के द्वारा सच्चे शिक्षा-संस्थान नहीं बनाते हैं तब तक हमें सन्तोष नहीं मानना चाहिए।

इसके लिए दृढ़ निश्चय और उस निश्चय को अमल में लाने की इच्छा-शक्ति हमें तैयार करनी है। हमें इस आदर्श को सामने रखना चाहिए—"सोचना और करना, करना और सोचना" जो कि काम के स्कूल का उसूल है। भारतीय शिक्षा-जगत में गांधीजी जैसे महा-पुरुष को बुनियादी तालीम का विचार पेश किये आज बाईस लम्बे साल बीत गये हैं, फिर भी क्या यह अत्यन्त दुखद बात नहीं है कि हम कहीं पहुँच नहीं पाये ? उसका कारण यह है कि जो नीति को तय करते हैं और जिनके ऊपर उस नीति को अमल में लाने का भार है वैसे लोग सभाओं में नहीं, पर साधारण बातचीत में ऐसी बातें कह देते हैं या - कुछ कहते नहीं, जिससे यह शंका होती है कि क्या हमें यह शिक्षा-पद्धति सचमुच मान्य है ? अगर हम बुनियादी तालीम को कारगर और सफल बनाना चाहते है तो इसके बारे में सब को गम्भीरता से सोचना पड़ेगा।

हम समय की चुनौती स्वीकार करें—

अगर हम ऐसा मानते है कि इन स्कूलों से हमें कोई मतलब नहीं और यह पद्धति व्यावहारिक और अच्छी नहीं है तो हम निश्चित रूप से कह दें और इस झगड़े को खत्म कर दें। यह एक नेक कदम होगा। मुझे विश्वास है कि अगर यह तय हुआ तो भारतीय शिक्षा-व्यवस्था में काम के मदरसे अधिक शक्ति और स्फूर्ति के साथ लौट आयेंगे, उनका काम ज्यादा जल्दी भी होगा। खतरा उन्हें इन्कार करने में नहीं, जितना सैकड़ों मानसिक गुत्थियों के साथ उन्हें स्वीकार करने में हैं।

मैं अपने साथी शिक्षकों से कहना चाहूँगा कि हमारे सामने एक बड़ी चुनौती है। हम साहस के साथ उनका सामना करें। ऐसा न हो कि हम चुपचाप बैठ रहें। जब तक दूसरे हमारे लिए सोचें और तय करें, फिर हम यान्त्रिक एवं निष्प्राण रूप से उसे करने लगें। हम अपने काम के बारे में स्वस्थ, स्वतन्त्र रूप से सोचें और अपने ऊँचे कर्तव्य का बोध हमें हो। हमें इस काम के द्वारा केवल अपनी जीविका नहीं कमाना है—जैसे कि करोड़ों देशवासी थकानेवाली, ऊबाने वाली कड़ी मेहनत से, जिसका उनके लिए कोई प्रयोजन नहीं है, जिसका उनकी जिन्दगी में कोई प्रयोजन नहीं है, कर रहे हैं। हमें इस हाथ के काम में बुद्धि की तेजस्विता, ऊँचा चरित्र और सामाजिक जिम्मेदारियों को निभाने की शक्ति भर देनी है और बौद्धिक काम को ठोस उद्देश्यपूर्ण बुनियाद देनी है।

हमारी शिक्षा

आचार्य कृपालानी

हमारे जीवन का शायद ही अन्य कोई क्षेत्र इतना उलझा हुआ होगा जितना शिक्षा का। शिक्षा से सम्बन्धित प्रत्येक व्यक्ति चाहे वह विद्यार्थी हो या शिक्षक, माता-पिता हों या जन-सामान्य, यहाँ तक कि सरकार भी, आज शिक्षण के नाम से जो कुछ चल रहा है उससे सन्तुष्ट नहीं है। सरकारी वक्ता अकसर कहते रहते हैं कि हमारे युवकों का शिक्षण खराब है। इसका क्या कारण है? कहीं ऐसा तो नहीं है कि हम शिक्षण का सही अर्थ ही नहीं समझते हों और यह हमें पता न हो कि शिक्षण से किन व्यक्तिगत और सामाजिक लक्ष्यों की सिद्धि हम चाहते हैं?

सामाजिक लक्ष्य—

प्रत्येक समाज अपनी नयी पीढ़ी को वर्तमान सामाजिक व्यवस्था के योग्य बनाने का प्रयत्न करता है। आज तक धार्मिक, राजनीतिक, आर्थिक या सामाजिक, जितनी भी क्रान्तियाँ हुई हैं वे तभी सफल हो सकी हैं जब कि नयी पीढ़ी के लिए नयी सामाजिक व्यवस्था के अनुकूल शिक्षण का प्रबन्ध हो पाया है। कोई भी महत्वपूर्ण परिवर्तन हो या क्रान्ति हो, उसमें जीवन के मूलभूत मूल्यों के परिवर्तन की बात रहती ही है। इन नये मूल्यों के आधार पर नयी समाज-व्यवस्था खड़ी की जाती है।

शिक्षण का पहला उद्देश्य यह है कि बच्चों को, जो कि भावी नागरिक हैं, वर्तमान जिस नये समाज के निर्माण की बात सोची जाती हो उस समाज के लिए समर्थ और सुयोग्य बनाया जाय। अगर नागरिक को संघर्ष-रहित और सुगम जीवन व्यतीत करना है तो

उसे जिस समाज में वह रह रहा है उसकी या जिस समाज में उसे आगे रहना है उसकी मूल मान्यताओं को स्पष्ट समझ लेना चाहिए ।

वास्तव में शिक्षण का आरम्भ जन्म के साथ ही होता है । जो शिक्षण घर में माता-पिता ने, मित्रों ने और पड़ोसियों ने आरम्भ किया है उसे ही आगे ले चलना शैक्षणिक संस्थाओं का काम है । इस स्थिति में भी व्यक्ति और समाज के सम्बन्ध समाधान-कारक होंगे और वे एक दूसरे के सहायक और सहयोगी होंगे । आखिर बड़ा से बड़ा प्रतिभाशाली व्यक्ति या क्रान्तिकारी भी बहुत हद तक अपने समाज की ही देन होता है । कोई क्रान्तिकारी, समाज की सम्पूर्ण व्यवस्था को पूरा-पूरा नहीं बदल सकता । कुछ न कुछ पुराने समाज का अंश अविकल रूप से बचा ही रहता है । कम से कम इतना तो होता ही है कि जाति अथवा राष्ट्र की विलक्षण प्रतिभा, उसकी मूल प्रकृति, उसका स्वभाव और आचार में उसकी अभिव्यक्ति—प्रायः ज्यों की त्यों बनी रहती है; इसलिए हर सुधारक या क्रान्तिकारी उसी समाज के परिवर्तन से आरम्भ करता है, जिसमें उसका पालन-पोषण हुआ रहता है; क्योंकि वह उस समाज को भली भाँति समझता है । इसके अलावा वह समाज का चाहे जितना विरोध करे, फिर भी उसके मन में अपने समाज के प्रति कुछ अनुकूल भावना रहती ही है ।

नागरिक के पुराने या नये समाज की व्यवस्था के अन्तर्गत अपना काम और पेशा खोज लेना होता है । सामाजिक व्यवस्था में उसे सम्मानपूर्ण जीविका का साधन भी मिलना चाहिए । अच्छे और सफल शिक्षण का यह भी एक काम है कि वह प्रत्येक नागरिक में कोई धन्धा अपनाने की, जिसे वह अपनी जीविका के लिए चुने,क्षमता पैदा करे । अन्यथा नागरिक समाज के लिये भार बन जाता है । ऐसी स्थिति में वह समाज को अपनी तरफ से कुछ देता नहीं; लेकिन अपने लिए पोषण तो लेता ही है और इस प्रकार वह या तो समाज-विरोधी तत्व बन जाता है या दूसरों के मत्थे जीता है ।

यह दो क्रियाएँ—एक, बालक को समाज के जीवन के योग्य बनाना और दूसरा, उसे अपने जीवन में कोई न कोई समाजोपयोगी कला, उद्योग, धंधा या काम करने लायक शिक्षण देना, ठीक प्रकार से और दक्षता पूर्वक चलें तभी समाज अपना स्वास्थ्य और शक्ति बनाये रख सकेगा । स्वास्थ्य और शक्ति का बना रहना प्रगति और उन्नति के लिए आवश्यक है । स्वस्थ समाज में शिक्षण का तीसरा काम विद्या का विकास है, जो शिक्षक और शिक्षार्थी के बीच सीखने-सिखाने की प्रक्रिया में अपने आप हो जाता है । आवश्यकतानुसार ज्ञान के अधिक विकास की दृष्टि से विशिष्ट संस्थाएँ भी खड़ी की जा सकती हैं; परन्तु यथा-सम्भव यह संस्थाएँ शैक्षणिक संस्थाओं के साथ ही जुड़ी होनी चाहिए ।

हमने ऊपर कहा है कि अब तक नयी समाज-व्यवस्था की आवश्यकता की पूर्ति की दृष्टि से युवकों के शिक्षण को बदला नहीं जाता तब तक कोई क्रान्ति परिपूर्ण नहीं होती । इतिहास साक्षी है कि भारत में शिक्षा की जो पुरानी ब्राह्मण-पद्धति थी वह बौद्धकाल में बदल

गयी । इसलाम के प्रवेश के साथ-साथ नयी आवश्यकताओं और माँगों के अनुसार शिक्षा-पद्धति में परिवर्तन हुए । अंग्रेजी के समय में तो शिक्षा-पद्धति में जोरों से मौलिक परिवर्तन किये गये ।

पहले प्राचीन भाषाओं और तत्कालीन विद्याओं के अध्ययन पर जो बल दिया जाता था, अब उसका स्थान विज्ञान और तंत्र शास्त्र—टेक्नालजी—ने ले लिया है । आज स्थिति यह है कि जो विद्वान विज्ञान के मूलभूत सिद्धान्तों को नहीं जानता है उसकी गणना शिक्षित व्यक्तियों में शायद ही की जायगी, भले ही वह अन्य विद्याओं का ज्ञाता हो । समाज-व्यवस्था में परिवर्तन होने के साथ-साथ शिक्षण के कतिपय उद्देश्यों में ही परिवर्तन नहीं हुआ है; बल्कि उसकी पद्धति में भी परिवर्तन हो गया है । आज के युग में बच्चों के शिक्षण की जो पद्धति अपनायी जा रही है उसमें बच्चे के मनोविज्ञान का ध्यान रखा जा रहा है और वह अधिक से अधिक वैज्ञानिक होती जा रही है । साम्यवादियों के शिक्षण के उद्देश्य और पद्धति दोनों में वैसा परिवर्तन करना पड़ा, जो उनके नये समाज के लिए अनुकूल और सहायक हो ।

हमारे देश के पुनरुत्थान के दिनों में इस विषय पर विभिन्न पहलुओं से विचार और प्रयत्न चले हैं । उत्तर भारत में एक धार्मिक उत्थान हुआ, जिसके कारण हिन्दुओं के अन्दर आर्यसमाज का संगठन हुआ । उसने हिन्दू समाज की जीवन-पद्धति में परिवर्तन करना चाहा और उसके लिए शिक्षण-पद्धति में परिवर्तन किया । इस पद्धति में गुरुकुलों का आदर्श रखा गया, जहां शहरों के व्यस्त और निबिड़ जीवन से दूर शान्त तपोवनों के वातावरण में ब्रह्मचारी पलते थे । गुरु और शिष्य एक साथ रहते थे और एक-दूसरे के अत्यन्त निकट सम्पर्क में आते थे ।

हमारे राष्ट्रीय आन्दोलन का सूत्रपात बंग-भंग से हुआ । इस आन्दोलन की शिक्षण समस्या में गहरी रुचि थी; क्योंकि उसे ऐसी शिक्षा चाहिए थी, जो इस सामाजिक व्यवस्था के अनुरूप हो, जिसे राष्ट्रवादी स्थापित करना चाहते थे । इस शिक्षण में सबसे अधिक जोर देशप्रेम पर तथा विज्ञान और तन्त्रशास्त्र पर दिया । सन १९०८ में सूरत कांग्रेस में जिन प्रश्नों को लेकर मतभेद पैदा हुआ उनमें एक शिक्षा का भी था । उदार मतवादी नरम दल के माडरेट लोग अंग्रेजों द्वारा चलायी हुई शिक्षा-पद्धति को बदलने के पक्ष में नहीं थे । उनकी दृष्टि में वह शिक्षण भारत के लिए बहुत उपयुक्त था । राष्ट्रवादी या गरमदल के लोग : एक्स्ट्रीमिस्ट : उसमें परिवर्तन चाहते थे । उनकी दृष्टि में वह पद्धति दोष-पूर्ण और अराष्ट्रीय थी । स्वतन्त्र और प्रगतिशील समाज के शिक्षण के सम्बन्ध में कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुर के अपने विचार थे । वह मानते थे कि बच्चों को स्वतन्त्र और आनन्द पूर्ण जीवन में पलने देना चाहिए । उन्होंने अपने विचारों के अनुकूल एक शिक्षा-संस्थान की स्थापना शान्तिनिकेतन में की; लेकिन स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद वह भी प्रचलित साँचे में ढाल दिया गया । यहाँ तक कि उसका आदर्श वाक्य—शान्तं शिवं अद्वैतम् भी खत्म कर दिया गया ।

'होम रूल मूवमेंट' ने फिर से स्वतंत्र भारत के लिए राष्ट्रीय शिक्षण के प्रश्न को उठाया। 'सविनय अवज्ञा आन्दोलन' के समय फिर एक बार राष्ट्रीय शिक्षण का प्रश्न प्रमुख रूप से सामने आया। विदेशी शासन के विरुद्ध, जो कार्यक्रम चला उसमें शिक्षण-संस्थाओं के बहिष्कार का एक प्रमुख स्थान था; क्योंकि उनके ही द्वारा विदेशी सरकार ने लोगों के दिमाग पर अपना सिक्का जमा रखा था। जल्दी-जल्दी राष्ट्रीय शालाओं और महाविद्यालयों की स्थापना की गयी, ताकि उन सरकारी और सरकार की मदद से चलने वाले स्कूल-कालेजों से निकलने वाले विद्यार्थियों को स्थान दिया जा सके। उन नयी शालाओं में मातृ-भाषा में शिक्षण दिया जाने लगा। उनमें उग्र देशभक्ति, राष्ट्र-सेवा और स्वतन्त्रता का वातावरण रखा गया।

जनता की प्रतिभा और शिक्षण

विदेशी शासन द्वारा स्थापित शिक्षा-व्यवस्था में परिवर्तन को आवश्यक समझा गया। मोटे तौर पर इसलिए आवश्यक था कि वह शिक्षा-व्यवस्था, लक्ष्य और पद्धति दोनों दृष्टियों से दोषयुक्त थी। वह भारतीय मस्तिष्क की उपज नहीं थी। उसका भारतीय समाज और भारतीय मानस के साथ मेल नहीं बैठता था। वह बाहर से थोपी हुई चीज थी। जिन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए उसकी रूपरेखा तैयार की गयी थी उसके और भारत के ध्येयों में कोई सामंजस्य नहीं था। उसका उद्देश्य यही था कि विदेशी शासन को बनाये रखने के लिए निम्न स्तर का सहायक नौकरवर्ग तैयार हो।

भारत जैसे विशाल राष्ट्र के शासन में लगने वाले छोटे-छोटे कामों के लिए सहायकों की सेना इंग्लैण्ड से लाना सम्भव नहीं था। वे यही कर सकते थे कि जो ऊँचे पद थे और जो अत्यन्त प्रमुख जिम्मेदारियाँ थीं उनके लिये मुट्ठी भर अंग्रेजों को अपने देश से लाते। वे यहाँ की जनता के साथ घुल-मिल कर रहना नहीं चाहते थे ; क्योंकि अगर वे वैसा करते तो उनकी जाति चली जाती। शासक की शान चली जाती; इसलिए उन्होंने यहाँ की भाषा न सीख कर काम चलाने के लिए अपने सहायकों को ही अपनी भाषा सिखायी। साथ-साथ हीन महत्वाकांक्षा और जी-हजूरी की भी घूंट पिलायी। उन्होंने शिक्षण के माध्यम के रूप में अंग्रेजी को दाखिल करने की मूर्खता तो की ही, उसके अलावा अत्यन्त सस्ते कर्मचारियों को तैयार करने का उनका काम तो निश्चित ही अत्यन्त नीच था।

इस उद्देश्यहीन शिक्षण से जो भी थोड़ा बहुत प्राप्त किया जा सकता था वह भी इस विदेशी भाषा के माध्यम के कारण कष्ट-साध्य हो गया। विद्यार्थियों को विदेशी भाषा सीखने में बहुत समय लगता था। इतने पर भी वे केवल शब्दों से ही परिचित हो पाते थे। उन शब्दों के पीछे जो वास्तविकता है या उन से जिस वस्तु का बोध है उससे वे अछूते ही रह जाते थे। उनके हाथ वैसा सिक्का लगता था, जो बाजार में भुनाया नहीं जा सकता

था। अकसर तोते की तरह विदेशी भाषा के उन पाठों को वे रट-रट कर याद कर लेते थे। अपने आस-पास के वातावरण से परिचित होने से पहले ही उनको वैसे विषयों, विचारों और भावनाओं का शाब्दिक परिचय कर लेना पड़ता था, जो उनसे बिलकुल सम्बन्ध नहीं रखते थे और जो अंग्रेज बच्चों के लिए ही अधिक स्वाभाविक होते थे।

ऐसे भारत के प्राचीन और नवीन भागों को जानने से पहले विद्यार्थियों से अपेक्षा की जाती थी कि वे इंगलैण्ड के जिलों के नाम याद करें। परीक्षाओं के सिवा इन सब का और कोई प्रयोजन उन के जीवन में नहीं होता था। उनके पाठों में आने वाली बातों, घटनाओं और प्रसंगों का उनके जीवन के साथ कोई सम्बन्ध नहीं रहता था। उन पाठों का विद्यार्थियों के पारिवारिक या सामाजिक परिस्थितियों के साथ कोई सामंजस्य नहीं होता था।

इस शिक्षा का यदि कोई ऊंचा उद्देश्य था तो उसे लार्ड मेकाले ने बनाया। वह शिक्षित भारतीयों को आंग्ल परिवार बनाना चाहता था—इस अन्तर के साथ कि चमड़े का रंग और खून भिन्न हो। उसकी दृष्टि में पूर्व का एक पूरा पुस्तकालय भी पश्चिम के ज्ञान से भरी एक आलमारी का मुकाबिला नहीं कर सकता था। सारे शिक्षित हिन्दुस्तानियों को नकली और निस्तेज अंग्रेज बना देना साम्राज्यवादियों के लिए भले ही ऊंचा लक्ष्य रहा हो; लेकिन उसका पूरा होना आसान नहीं था। यह बहुत कुछ पीटर महान और उसके बाद जार बादशाहों के उस प्रयत्न के समान था, जो रूस के पाश्चात्यीकरण के स्वप्न देखते थे; लेकिन जिनकी अपनी संस्कृति इतनी भव्य और ऊंची हो, भले वह कुछ अवरुद्ध-सी हो गयी। उन्हें अंग्रेज नहीं बनाया जा सकता था। हाँ, उनकी नकल में 'भूरे बन्दर' बनाये जा सकते थे।

नतीजा यह हुआ कि उन लोगों ने जो कुछ ज्ञान दिया वह केवल बौद्धिक और किताबी था, जो तोते की रट की तरह याद कर लिया जाता था। मजे की बात यह थी कि जिस अंग्रेजी शिक्षा-पद्धति की नकल यहाँ की गयी वह खुद इंगलैण्ड में पुरानी पड़ती जा रही थी।

इसके अलावा उन लोगों ने जो पद्धति यहाँ चलायी उसने ऐसा दिमाग पैदा किया, जो विवेक-शून्य होकर कही हुई बात मान ले। जो वस्तुनिष्ठ न हो और जिसमें छानबीन करके परिणामों पर पहुँचने की क्षमता न हो; इसलिए वह शिक्षार्थी के पूरे व्यक्तित्व का विकास नहीं कर सकी। बढ़ते हुए बच्चे को वह कोई स्वस्थ प्रवृत्ति भी नहीं दे सकी। उस शिक्षा में बच्चे की भावनाओं और उनकी संवेदनाओं का विकास नहीं हो पाता था। भारतीय बच्चे को अपरिचित 'ककू' की पुकार में या विदेशी चातक 'स्काइलार्क' के गीत में, जिसे उसने जीवन भर कभी नहीं देखा, क्या आनन्द आ सकता था? पाश्चात्य संगीत में वह कैसे रस ले सकता था? पाश्चात्य कला से जिसे वह गन्दी व सस्ती तसवीरों में ही देखता था कैसे अपनी सौन्दर्यभावना को सन्तुष्ट कर सकता था? उसके लिए भारतीय कला तो जैसे किताबों के अन्दर बन्द थी। इतना ही नहीं, उसे यहां तक सिखाया जाता था कि भारतीय कला बर्बरतापूर्ण

और विसंगत है । उसमें वास्तविकता और प्रकृति का प्रतिनिधित्व नहीं है । ऐसा नहीं था कि उसके विदेशी शिक्षक ही यह सब पढ़ाते थे; बल्कि विदेशी शिक्षा-प्राप्त देशी शिक्षकों ने भी यही पढ़ाया । इसका परिणाम कुछ अच्छा नहीं हुआ । कहा जाता था कि भारत की राष्ट्रीय कांग्रेस का जो पहला अध्यक्ष था वह शत प्रतिशत अंग्रेज था । यहाँ तक कि उसका सिगरेट पकड़ने का ढंग भी अंग्रेजी था । शिक्षित भारतीय विदेशी भाषा में पढ़ता था और विदेशी भाषा में ही सोचता था । उसकी बड़ी से बड़ी ख़ाहिश यह रहती थी वह अंग्रेजी में ही चले, बोले, खाये, हँसे, अपने कन्धे को झटके यानी जो कुछ करे अंग्रेजी ढंग से करे । सपना भी वह अंग्रेजी में ही देखना चाहता था । मैं जानता हूँ कि कुछ शिक्षित भारतीय अपनी यह ऊँची आकांक्षा पूरी कर सके थे ।

यह तो रहा शिक्षा के उद्देश्य के बारे में । जहां तक पद्धति का प्रश्न है वह भी न तो शास्त्रीय थी न बाल-मनोविज्ञान के अनुकूल । उसमें सर्जनात्मक क्रियाशीलता का अभाव था । वह सारे अभिक्रम और क्रियात्मक जीवनी-शक्ति को ही हर लेती थी । उसने जीवन के समृद्ध आनन्द को ही खतम कर दिया, जो स्कूल और कालेज में पढ़ने वाले यूरोपीय बालकों में भरपूर पाया जाता है ।

यह शिक्षण, जो स्वतन्त्रता से पहले लक्ष्य और पद्धति दोनों दृष्टियों से अत्यन्त दोषपूर्ण और राष्ट्रीयता के विरुद्ध माना जाता था, अब स्वतन्त्र भारत में आज एक उत्तर राष्ट्रीय शिक्षण मान कर प्रतिष्ठित और प्रचलित किया जा रहा है । लोग समझते हैं कि गोरे हाथों से काले हाथों में सत्ता के हस्तान्तरण के जादू के चमत्कार से ऐसा हुआ होगा । आज वर्तमान परिस्थिति से सभी लोगों के दिल में जो असन्तोष है उसीसे स्पष्ट है कि यह कितनी बड़ी मूर्खता की बात हुई है । सन १९५२ में सेकेण्डरी एजूकेशन कमेटी ने शिक्षा का जो विवरण दिया है उससे जाहिर है कि स्वतन्त्रता से पहले, जो शिक्षण-पद्धति थी उसमें कुछ भी रद्दोबदल नहीं किया गया है । उस कमेटी का कहना है—एक तो हमारा स्कूली शिक्षण प्रत्यक्ष जीवन से बिलकुल अलग है । दूसरे, वह अत्यन्त संकुचित और एकांगी है और विद्यार्थी के समग्र व्यक्तित्व का विकास करने में असमर्थ है । तीसरे अभी तक अंग्रेजी भाषा, पढ़ाई का माध्यम भी थी और अध्ययन का अनिवार्य विषय भी; इसलिए जो विद्यार्थी इस भाषा में भी कुछ कच्चे रह जाते हैं । समूचे शिक्षण में उनकी बड़ी दुर्दशा हो जाती है । चौथे, पढ़ाई की जो पद्धति है वह विद्यार्थियों में स्वतन्त्र चिन्तनशक्ति और सक्रियता निर्माण करने में असमर्थ सिद्ध हुई है । पाँचवें, शालाओं में विद्यार्थियों की संख्या इतनी बढ़ गयी है कि शिक्षक और विद्यार्थी का निकट सम्पर्क और आत्मीय सम्बन्ध जुड़ नहीं पाता और अन्ततः परीक्षाओं पर जो जोर दिया जाता है उससे शिक्षकों का अभिक्रम क्षीण हो गया है, पाठ्यक्रम पत्थर की लकीर बन गया है । शिक्षण की पद्धति यंत्रवत और प्राणहीन बन गयी है । प्रयोगात्मक वृत्ति समाप्त हो गयी है और शिक्षण में गलत और गौण बातों पर अधिक जोर दिया जा रहा है ।

अपूर्ण

स्थापना

श्री गोरखनाथ चौबे

बुनियादी शिक्षा का चलन तो गांधी जी की प्रेरणा से प्रायः सभी राज्यों में १९३७ ई० के बाद ही आरम्भ हो गया था । राजनीति में व्यस्त हो जाने के कारण गांधी जी इसे तेजी से बढ़ाने में सफल नहीं रहे; परन्तु शिक्षा में उनकी वह विचारधारा बिजली की तरह देश के कोने-कोने में फैल गयी । जिस राज्य ने जितना समझा, उसी रूप में कार्य आरम्भ किया । उत्तर प्रदेश भी इसमें पीछे नहीं रहा । सरकारी आज्ञा से सभी स्कूल बुनियादी स्कूल घोषित कर दिये गये । शिक्षा में नये-नये प्रयोग किये जाने लगे । नये साहित्य के निर्माण की व्यवस्था हुई । नये प्रकार के ट्रेनिंग स्कूल खोले गये । एक चहल-पहल शिक्षण संस्थाओं में पैदा हुई; परन्तु गाँधी जी की विचारधारा को समझना और उसे कार्यरूप में उतारना कोई सरल काम नहीं था । उसके लिए त्याग की आवश्यकता थी । वह त्याग प्रचलित शिक्षा का मोह था । उसके लिये देश तैयार नहीं था और आज भी तैयार नहीं है । कौन अपने बच्चे को इसलिए स्कूल में भेजता है कि वह अधिक परिश्रमी बन कर शुद्ध आचार-विचार रखते हुए कुशल किसान, बढ़ई, धोबी, नाई, दरजी आदि बने । ऐसा कोई नहीं करता । लोग तो केवल नौकरी करने के लिए बच्चों को पढ़ाना लिखाना चाहते हैं । यही दृष्टिकोण बुनियादी शिक्षा में पहले भी बाधक रहा है और आज भी है ।

केन्द्रीय शासन की ओर से स्वतन्त्र भारत में बुनियादी शिक्षा के चलन पर अधिक बल दिया जाना स्वाभाविक था । बुनियादी शिक्षा हमारे राष्ट्रीय प्रोग्रामों में काफी महत्वपूर्ण रही है । वह कैसे उपेक्षित की जा सकती है । स्वयं गाँधी जी की उसमें अनुभूति है । चरखा और बुनियादी शिक्षा को मिलाकर गांधी जी ने यह सिद्ध कर दिया कि जीवन और जीविका, साथ-साथ होना चाहिए । शिक्षा में जीवन और जीविका का सम्मिलित स्वरूप है । दोनों एक दूसरे से पृथक रह कर सही समाज का निर्माण नहीं कर सकते । राज्यों में स्वतन्त्रता के बाद बुनियादी शिक्षा की प्रगति कुछ तेजी से आरम्भ हुई । कुछ राज्यों में बेसिक शिक्षा बोर्ड

की स्थापना की गयी। उसी की देख-रेख में बुनियादी शिक्षा का कार्य होने लगा। जहाँ इस तरह के बोर्ड नहीं बने, वहाँ बुनियादी शिक्षा का कार्य किसी और प्रकार से होता रहा। उत्तर प्रदेश १९६० ई० तक बिना किसी बोर्ड के यह कार्य करता रहा है।

१९६० ई० के आरम्भ में ही इस बात का अनुभव किया गया कि बुनियादी शिक्षा एक ऐसी पद्धति है, जो देश के लिए उपयोगी होते हुए भी कठिन है। इस पर काफी सोचने-विचारने और खोज की आवश्यकता है। जब तक इसके प्रयोग सफल रूप से लोगों के सामने नहीं आयेंगे, तब तक लोग बाबू बनने की मृगतृष्णा का त्याग नहीं कर सकते। यह कार्य तभी सफल होगा जब इस शिक्षा के संचालन के लिए कुछ सुयोग्य व्यक्तियों का सहयोग सरकार को प्राप्त हो। इस सहयोग का क्या रूप हो और सरकार इस गठन को कैसे बनाये, इस पर काफी समय लगाया गया। माननीय आचार्य जुगुल किशोर जी जब शिक्षा मन्त्री हुये तब उनका ध्यान विशेष रूप से इस दिशा की ओर आकृष्ट हुआ। उन्होंने यह अनुभव किया कि केवल सरकारी घोषणाओं तथा नाम परिवर्तन से बुनियादी शिक्षा को बल नहीं मिलेगा। इसे सही मार्गदर्शन की आवश्यकता है। उन्हीं की प्रेरणा से १९६१ ई० में बेसिक शिक्षा बोर्ड की स्थापना हुई, जो अपने सुझाव एवं अनुभव से सरकार को सहयोग देता है कि बुनियादी शिक्षा को कैसे संचालित किया जाय।

बोर्ड के उद्देश्य--

राज्य में बुनियादी शिक्षा का चलन पहले से ही है, परन्तु उसमें न तो सही मार्गदर्शन की कोई विधि रही है और न उसकी प्रगति का कोई मापदंड रहा है। बेसिक शिक्षा बोर्ड के मुख्य दो उद्देश्य हैं :—

१—बुनियादी शिक्षा को सही मार्ग की ओर मोड़ देना।

२—सम्पूर्ण प्राथमिक शिक्षा के स्तर को ऊँचा करना।

इन्हीं दो उद्देश्यों के अन्तर्गत इस बोर्ड के सभी उद्देश्य आ जाते हैं। आज देश के सामने शिक्षा एक समस्या है। शिक्षित नवयुवकों के सामने कार्य का प्रश्न है। आज एक मजदूर, किसान, बढ़ई, धोबी, नाई, दर्जी, ग्वाला इनके बच्चे बी० ए० और एम० ए० की डिग्री लेकर जब नौकरी नहीं पाते तब उन्हें सोचना पड़ता है कि अब क्या करें। परिवार के पेशों में न तो मन लगता है और न उसकी जानकारी ही है। वर्षों तक परिश्रम किया, हजारों रूपया लगाया और परिणाम कुछ नहीं। इस तरह की शिक्षा जब २० और २५ प्रतिशत शिक्षित होने पर ही अभिशाप है तब उस अवस्था में क्या होगा जब देश के सभी लोग शिक्षित हो जायेंगे। फिर तो बेकारी की एक भयंकर समस्या होगी जो समाज और सरकार दोनों को कठिनाई में डाल देगी। इस तरह की समस्या से समाज को कैसे बचाया जाय—बुनियादी शिक्षा इसी का एक हल है।

सामान्य रूप से बेसिक शिक्षा बोर्ड के निम्नलिखित उद्देश्य हैं :—

१—प्रचलित बुनियादी शिक्षा का अवलोकन करना और सरकार को उसे उन्नत बनाने का सुझाव देना।

२—नर्सरी कक्षा से आठवीं कक्षा तक बुनियादी शिक्षा के सफल संचालन के लिये सुझाव देना।

३—बुनियादी शिक्षा के पाठ्य क्रम की छान बीन करना और किताबी भार को कम कर उत्पादन की क्षमता बढ़ाना।

४—बुनियादी शिक्षा के लिये सुयोग्य अध्यापक कैसे मिलें अथवा इनके ट्रेनिंग की क्या व्यवस्था हो—इस पर सरकार को सलाह देना।

५—बुनियादी शिक्षा में स्वावलम्बन की भावना को बढ़ाना।

६—ऊँची कक्षाओं में बुनियादी शिक्षा के चलन पर विचार करना और सरकार को इस सम्बन्ध में परामर्श देना।

७—राज्य में प्रचलित बुनियादी स्कूलों में जीवन और शिक्षण की प्रगति का अध्ययन करना और उसमें वृद्धि करने का उपाय सोचना।

८—प्रारम्भिक शिक्षा के स्वरूप को ऊपर की शिक्षा से जोड़ना जिससे शिक्षा का रूप खंडित न हो जाये।

९—प्रारम्भिक शिक्षा के उन सभी पहलुओं पर विचार करना जो बुनियादी शिक्षा से सम्बन्धित हैं।

बोर्ड के सदस्य :—

बेसिक शिक्षा बोर्ड में सरकारी तथा गैर सरकारी दोनों प्रकार के सदस्य हैं। सरकार की यह धारणा है कि दोनों के सहयोग से शिक्षा की ससस्याओं पर सही विचार होगा और इन्हें कार्य करने में सुविधा होगी। जब तक कोई विचारधारा कार्य रूप में न लाई जाय तब तक उसका समाज को लाभ नहीं है। इसीलिए शिक्षा विभाग, उद्योग विभाग, कृषि विभाग, स्वायत्त शासन विभाग, विकास विभांग—इन सबके प्रतिनिधि बोर्ड में सम्मिलित किये गये हैं। शिक्षा का दृष्टिकोण व्यापक होना चाहिये। वर्तमान विज्ञान के युग में, जब कि समय तेजी से बदल रहा है, शिक्षा का दरवाजा सदैव खुला रहना चाहिये। नई विचार धारा को उसमें सबसे पहले स्थान मिलना चाहिये। तभी समाज में उसकी मान्यता होगी। बोर्ड के संगठन से यह स्पष्ट है कि बुनियादी शिक्षा को प्रगतिशील और देश की उन्नति के समकक्ष बनाना है।

बेसिक शिक्षा बोर्ड में कुल २५ सदस्य हैं, जिनकी नामावली नीचे लिखे प्रकार से है :-

१—शिक्षा मन्त्री आचार्य जुगुल किशोर जी	बोर्ड के सभापति
२—शिक्षा उपमन्त्री श्री केशभान राय जी	बोर्ड के उपसभापति
३—विकास आयुक्त, उत्तर प्रदेश	सदस्य
४—सचिव, उत्तर प्रदेश शासन, शिक्षा विभाग	,,
५—शिक्षा निदेशक, उत्तर प्रदेश	,,
६—कृषि निदेशक, ,, ,,	,,
७—उद्योग निदेशक, ,, ,,	,,
८—उप शिक्षा निदेशक (सामान्य) उत्तर प्रदेश	सचिव
९—प्रो० यू० ए० असरानी आदर्श नगर, लखनऊ	सदस्य
१०—श्री अक्षय कुमार करण सेवापुरी, वाराणसी	,,
११—श्री राधाकृष्णन् सर्व सेवा संघ, नई तालीम, वरधा	,,
१२—श्रीमती स्वरूप रानी बख्शी नारी शिक्षा निकेतन, राजा नवाब अली रोड, लखनऊ	,,
१३—प्रो० राममूर्ति श्रम भारती, खादी ग्राम, मुंगेर (विहार)	,,
१४—प्रो० एम् मुजीवन उप कुलपति, जामिया मिलिया, दिल्ली	,,
१५—श्री अच्युत पटवर्धन सेवापुरी, वाराणसी	,,
१६—श्री गोरख नाथ चौबे एम० ए० २९१, मम्फोर्डगंज, इलाहाबाद	,,
१७—श्रीमती शोभा तैलंग प्रिंसिपल, राजघाट कन्या विद्यालय, वाराणसी	,,

१८—श्री बी० एन० कपूर उप नगर प्रमुख, नगर महापालिका, इलाहाबाद	"
१९—श्री जे० एन० सिनहा अध्यक्ष , नगरपालिका, रुड़की	"
२०—श्री राम जी दास गुप्ता अध्यक्ष, अन्तरिम जिला परिषद, मथुरा	"
२१—श्री हर प्रसाद अध्यक्ष, अन्तरिम जिला परिषद, फतेहपुर	सदस्य
२२—कुमारी कमल गोइन्दी (भूतपूर्व एम० एल० ए०)	"
२३—श्री मदन मोहन, एम० एल० सी०	"
२४—श्री श्री प्रकाश स्वरूप नगर, कानपुर	"
२५—कुमारी आलिव बी० मार्क प्रधानाध्यापिका, लालबाग बेसिक प्राइमरी स्कूल, लखनऊ	"

बोर्ड की कार्य पद्धति :—

बेसिक शिक्षा बोर्ड सामान्य रूप से वर्ष में दो बार अपनी बैठक करता है । आवश्यकता पड़ने पर इसकी और भी बैठकें बुलाई जाती हैं । वैसे तो इसकी बैठक लखनऊ में होती हैं । परन्तु राज्य में किसी भी स्थान पर इसकी बैठक बुलाई जा सकती है । बुनियादी शिक्षा के सम्बन्ध में बड़ी बड़ी बातें तथा नीति विषयक प्रश्न बोर्ड की बैठक में विचार किये जाते हैं । चूंकि बार बार बोर्ड की बैठक बुलाना सम्भव नहीं है, इसलिये बोर्ड के सभी सदस्य ३ कमीटियों में विभक्त कर दिये गये हैं । प्रत्येक कमीटी के जिम्मे अलग अलग कार्य हैं । ये कमीटियाँ प्राय: मिलकर शिक्षा के विभिन्न विषयों पर विचार करती हैं और सरकार को सुझाव देती हैं । कमीटियों के नाम निम्न लिखित हैं :—

१—टेकनिकल कमीटी

२—शासन सम्बन्धी कमीटी

३—छोटे बच्चों तथा लड़कियों की शिक्षा सम्बन्धी कमीटी

कमीटियों की कार्यवाही बोर्ड के सामने उपस्थित की जाती है । सभी सदस्य सम्मिलित रूप से उस पर विचार करते हैं । फिर उसके निर्णय को कार्यान्वित करने की सरकार व्यवस्था करती है । यह क्रिया सामान्य रूप से चलती रहती है । शिक्षा सम्बन्धी प्रत्येक

समस्या बोर्ड के सामने आती है और उस पर उचित विचार होता है। प्रजातन्त्र देश में इससे अच्छी कोई दूसरी पद्धति नहीं हो सकती। इसमें इतना ध्यान रखने की आवश्यकता है कि निर्णय को कार्यान्वित करने में अनावश्यक विलम्ब न हो। सरकारी पद्धति में कुछ विलम्ब तो अनिवार्य है परन्तु अधिक विलम्ब अच्छी से अच्छी योजना को खटाई में डाल देता है।

बुनियादी शिक्षा एक नई पद्धति है। वास्तव में यह शिक्षा में एक नया दृष्टिकोण है। गाँधी जी इसके जन्मदाता हैं। इसकी सफलता एक विशेष समाज की रचना पर निर्भर है। जब समाज श्रम के मूल्य को अपनायेगा और इसे मान्यता देगा तभी इस शिक्षा की प्रगति होगी। अब प्रश्न यह है कि पहले समाज का निर्माण हो अथवा पहले बुनियादी शिक्षा का चलन हो। समाज प्रायः शिक्षा से बनते हैं। बृटिश शासन में जिस समाज की आवश्यकता थी, उसी प्रकार की शिक्षा दी गयी। विदेशी शासकों को सस्ते मूल्य पर सरकारी दफ्तरों में क्लर्कों की आवश्यकता थी। उन्हें ऐसे समाज की आवश्यकता थी जो देखने में भारतीय हो परन्तु उसकी रुचि विदेशी हो। अंग्रेजी शिक्षा इसीलिये सफल हुई। उसकी जड़ इतनी मजबूत है कि आज भी स्वतन्त्र भारत से अंग्रेजियत को हटाने में कठिनाई हो रही है। बुनियादी शिक्षा की तह में जाने के लिये लोग तैयार नही हैं। नई पद्धति में कुछ कठिनाई तो अवश्य ही होगी। पिछली मान्यताओं को भी छोड़ना होगा। अपने दृष्टिकोण को बदल कर हमें शिक्षा संस्थाओं का निर्माण और प्रसार करना होगा। अनुभव तथा अभ्यास में कुछ कठिनाइयाँ होंगी परन्तु यह निश्चित है कि इससे समाज बदलेगा।

कुछ विद्वानों का विचार है कि समाज और शिक्षा के बदलने का कार्य साथ-साथ किया जाय। कुछ लोग शिक्षा के ही परिवर्तन से समाज परिवर्तन की कल्पना करते हैं। बोर्ड इन प्रश्नों पर विचार करता है। बाहर से आये हुये शिक्षा सम्बन्धी सुझावों पर भी विचार किया जाता है। समाज से अलग शिक्षा का मूल्य नहीं है। शिक्षा तो समाज-निर्माण का एक साधन है। स्वस्थ समाज वह है जिसमें लोग स्वावलम्बी जीवन व्यतीत करें; एक दूसरे पर आश्रित न रहें; कोई किसी का शोषण न करे; आचार विचार का समाज में मूल्य हो; नागरिकों का नैतिक स्तर ऊँचा हो। बुनियादी शिक्षा में ये सारे गुण मौजूद हैं। फिर इसकी सफलता में कोई सन्देह नहीं है। इतना उपयोगी और आवश्यक कार्य कैसे हो—बोर्ड इसके लिये प्रयत्नशील है। सरकार भी इस दिशा में कार्य करने के लिये उत्सुक है, व्यवहारिक कठिनाइयों के कारण रुकावटें आती हैं, परन्तु शिक्षा के स्वरूप को बदलने के लिये वह हर प्रकार से तत्पर है। राष्ट्रीय शिक्षा की माँग का वह स्वागत करती है।

बोर्ड के कुछ सुझाव :—

यद्यपि बेसिक शिक्षा बोर्ड को स्थापित हुये अभी पूरे दो वर्ष भी नहीं हुये परन्तु शिक्षा मन्त्री जी की प्रेरणा से कुछ ऐसे निर्णय किये गये जिससे बुनियादी शिक्षा का स्तर ऊँचा होगा। अभी तक प्रायमरी स्कूलों में मिडिल पास अध्यापक होते रहे हैं। परन्तु १९६२ ई०

से सरकार ने अध्यापकों की कम से कम योग्यता हाई स्कूल स्वीकार किया है। ट्रेनिंग के सम्बन्ध में भी जे० टी० सी० तथा एच० टी० सी० को मिलाकर बी० टी० सी० व्यवस्था मान ली गई है। बुनियादी स्कूलों में केवल उत्पादक उद्योगों को स्थान दिया जायगा। अंग्रेजी की पढ़ाई का प्रश्न बोर्ड के सामने है। सरकार भी इस पर विचार कर रही है। केन्द्रीय सरकार स्वयं इस प्रश्न पर सोच रही है। इसकी कठिनाइयां और व्यवहारिक रूप का अध्ययन किया जा रहा है। बुनियादी विद्यालयों का स्तर ऊँचा करने के लिये उनमें पुस्तकें, नक्शे, चार्ट आदि सामान दिये जा रहे हैं। बोर्ड का विचार है कि ये बुनियादी विद्यालय ऐसे हों जिनमें सफाई,स्वावलम्बन और जीवन—तीनों दिखाई दे।

बोर्ड के सदस्य शिक्षा के अनुभवी हैं। विभिन्न क्षेत्रों में उनके ठोस अनुभव हैं। वे शिक्षा की गति विधि में ऐसे सुधार के पक्ष में हैं जिससे राष्ट्रीय जीवन का निर्माण हो। प्रत्येक सदस्य अपने अध्ययन और अनुभव से सरकार को उचित सलाह देता है। शिक्षा की अनेक समस्याओं पर उनका गहरा अध्ययन है। हमारे कुछ सहयोगी सदस्य गांधी जी की बुनियादी शिक्षा का प्रयोग स्वतन्त्र रीति से कर रहे हैं। कुछ भाइयों का ग्रामीण जीवन का गहरा मनन चिन्तन तथा अनुभव है। शहरी जीवन की समस्यायें भी उनके सामने हैं। इन सभी अनुभवों के आधार पर बुनियादी शिक्षा की प्रगति की जा रही है। सदियों की चलती हुई विचार धारा और पद्धति को बदलने में काफी रुकावटें आती हैं। कुछ समय भी लगता है। अन्त में नई पद्धति की झलक दिखाई देती है।
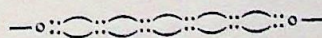
आशा देवी आर्यनायकम्

बहुत पुराने जमाने से हमारे देश में गुरु या शिक्षक ही शिक्षा का प्राण समझे गये हैं। संस्कृत में स्कूल, कालेज या विश्वविद्यालय का नाम ही था गुरुकुल। शिक्षा की उम्र प्राप्त होने पर बालक अपने पिता का घर छोड़ कर गुरु के घर आता था। उसके बाद से उसकी सिर्फ शिक्षा की ही नहीं, उसका पालन-पोषण, खेल-कूद, सुख-दुःख की, उसके शारीरिक, मानसिक, आध्यात्मिक हर तरह के विकास की सारी जिम्मेदारी गुरु पर होती थी। शिक्षा पूरी होने के बाद उस युवक को समाज का एक कामकाजी अंग बना कर गुरु फिर उसे समाज को लौटा देते थे। इस कठिन काम के लिए न उन्हें कोई वेतन मिलता था, न पारिश्रमिक। इतना ही नहीं, उनके लिए ऐसा पारिश्रमिक या दान लेना ही पाप समझा जाता था।

शहरों से दूर एकान्त स्थान में झोंपड़ियाँ डाल कर वे रहते थे और शिक्षा से अपना, अपने परिवार का और विद्यार्थियों का निर्वाह करते थे; लेकिन समाज में सब से बड़ा सम्मान का स्थान होता था उन गरीब गुरुओं का। बड़े-बड़े राजा और सेठ भी नम्र हो कर अपने ऐश्वर्य का सब ठाठ पीछे छोड़ कर सलाह और उपदेश के लिए उनके पास आते थे और उनकी कुछ सेवा करने का मौका मिलने से अपने को कृतार्थ समझते थे।

जब हम मानव समाज के इतिहास पर गौर करते हैं तो देखते हैं कि सिर्फ प्राचीन भारत में ही नहीं, चीन में, यूनान में और जहाँ कहीं एक बड़ी संस्कृति या सभ्यता का विकास हुआ है, जिसमें मानव संस्कृति के आगे बढ़ाने में हाथ बटाया है, वहीं हम पाते हैं कि समाज के सब कामों में शिक्षा के काम को सब से बड़ा काम समझा गया है और शिक्षक या

गुरु को समाज में सब से सम्मान का स्थान दिया गया है। यह मानी हुई बात है कि समाज के काम में शिक्षा का स्थान और समाज में शिक्षक का मान इन दो बातों से उस समाज के जीवन की पहचान होती है। जिस सभ्यता में प्राण है उस समाज में शिक्षा और शिक्षक अपने में माननीय होते हैं और समाज से भी सम्मान पाते हैं और जैसे-जैसे समाज की प्राण-शक्ति घटती जाती है गुरु का स्थान भी गिरता जाता है।

इस ऐतिहासिक सत्य का सब से ज्यादा दुखदायी उदाहरण तो हमें अपने देश के इतिहास में ही मिलता है, इस देश के इतिहास में ही मिलता है। जिस देश में किसी जमाने से गुरु या शिक्षक समाज के शीर्षस्थान समझे जाते थे उसी देश में आज देहाती शिक्षक सब से नीचे के स्तर पर पहुँच गये हैं। वे गरीब हैं, उनके पास अपने जीवन-निर्वाह के लिए काफी सामान नहीं है। यह बात सच है, लेकिन हमारे देश में शिक्षक या ब्राह्मण या गुरु हमेशा गरीब ही रहे हैं। इससे बड़ी बात यह है कि इस गरीबी के साथ उनकी जो प्रतिष्ठा थी वह आज नहीं है। पुराने दिनों में शिक्षक खुद निरसम्बल होते थे, लेकिन समाज का सारा ऐश्वर्य और सारी शक्तियाँ उन के पीछे रहती थीं; इसलिए दरिद्र हो कर भी समाज में सब से शक्तिशाली प्रभाव उन्हीं का था। पुराने दिनों में ब्राह्मण का दारिद्रय शक्तिशाली का दारिद्रय था। आज शिक्षकों का दारिद्रय दुर्बलता, निःसहायता का दारिद्रय है।

इसका भी कारण है। उन दिनों के ब्राह्मण बाहर के उपकरणों में दरिद्र होते थे; लेकिन आज के शिक्षक तो अन्दर और बाहर दोनों तरह से निर्धन हैं। आज उनके पास वह चारित्र्य का बल नहीं है, वह ज्ञान का गौरव नहीं। अपने काम के लिए वह श्रद्धा और निष्ठा नहीं। आज हमारे शिक्षक जीवन के लिए बच्चों को तैयार नहीं कर रहे हैं, आधा पेट वेतन के लिए मजदूरी कर रहे हैं।

बुनियादी तालीम को हम ने शिक्षा में अहिंसक क्रान्ति माना है। इसके जरिये हम अपने राष्ट्रीय और सामाजिक जीवन में एक नया युग लाने की आशा रखते है; लेकिन यह तभी सम्भव है जब हमारे शिक्षकों के जीवन में साथ-साथ एक क्रान्ति पैदा हो। वे आज के जैसे शिक्षक न हो कर सच्चे गुरु बन कर समाज में अपना स्थान फिर से ले लें।

इसके लिए कुछ तो समाज और राष्ट्र की ओर से तैयारी की आवश्यकता हैं। शिक्षकों की आर्थिक और सामाजिक स्थिति में सबसे पहले सुधार करना है। ये सम्मान के साथ जीवन निर्वाह कर सकें और अपने परिवार का भरण-पोषण कर सकें। इसका आर्थिक प्रबन्ध करना है। इनके बौद्धिक और सांस्कृतिक जीवन में प्रगति होती रहे, इसके लिए जरूरी मसाला, साहित्य इन्हें पहुँचाते रहना है और हमारे राष्ट्र के साहित्य, कला, विचार-धारा आदि के प्रवाह को शहरों से हटा कर देहात की ओर ले जाना हैं। सामाजिक और राष्ट्रीय हर अनुष्ठान में हर त्योहार-उत्सव में सब से बड़ा सम्मान का स्थान शिक्षकों को देना है।

लेकिन इससे भी अधिक तैयारी की आवश्यकता है शिक्षकों की अपनी ओर से। समाज का और राष्ट्र का यह सब बाहरी आयोजन निष्फल रहेगा अगर शिक्षकों के अन्दर वह शक्ति और आत्मविश्वास पैदा न हो, जिसके बल से उन्होंने हमारे समाज में एक समय सब से ऊँचा स्थान लिया था। इसके लिए उन को अपने काम में श्रद्धा की जरूरत है। सम्मान के लिए पुरस्कार के लिए वे औरों की तरफ न देखें। अपने विवेक और कर्तव्यबुद्धि पर ही निर्भर रहें। उन्हें अपना आदर्श ऊँचा रखना है और उस आदर्श की ओर उन्हें दिन प्रति-दिन आगे बढ़ना है और इसके लिए अपने बीच संगठन करना है। उनकी संगठित शक्ति की बुनियाद पर ही कोई नयी तालीम या नये समाज की इमारत खड़ी हो सकती है।

शायद हमारे हिन्दुस्तान की देहातों के गरीब शिक्षक सोचते हों कि यह उनका अकेले का सवाल है। इसलिए उन के सामने मैं इंग्लैण्ड के एक शिक्षक की अपील रखना चाहती हूँ। आज इंग्लैण्ड में तालीम में काम करनेवालों में, जिन्होंने नयी राह दिखाई है ए० एस० नील का नाम मशहूर है। शिक्षा के क्षेत्र के क्रान्तिकारियों में ये एक बड़े क्रान्तिकारी माने जाते हैं। उन्होने अपना जीवन एक गरीब देहाती स्कूल मास्टर के घर में शुरू किया। वे अपने बचपन की बात कहते हैं——"मेरे पिताजी स्काटलैण्ड के एक देहाती स्कूल के शिक्षक थे, इसलिए जीवन की शुरुआत से ही मैं अच्छी तरह समझ गया कि समाज में हमारे परिवार का कोई भी स्थान नहीं है।" इस प्रकार देहाती शिक्षकों की सामाजिक हीनता का ही नहीं, गरीबी का भी उन्हें अनुभव हुआ।

कुछ शिक्षकों के साथ मिल कर उन्होंने 'समर हिल' नाम का एक स्कूल स्थापित किया। जिस स्कूल में बरसों ये अपने आदर्श के मुताबिक बच्चों को शिक्षा देने की कोशिश कर रहें हैं। उन का आदर्श यह है कि बच्चों के ऊपर बाहर से या अन्दर से किसी तरह का दबाव न हो, पूर्ण आजादी और सच्चाई के वातावरण में बच्चों का स्वाधीन और सम्पूर्ण विकास हो। इस प्रयोग को चलाते हुए शिक्षक, बच्चों के माँ-बाप, तालीम के काम करने वाले या शिक्षा में दिलचस्पी रखने वाले सबों के लिए अपना अनुभव पुस्तकों के रूप में प्रकाशित करते आये हैं।

अपनी पुस्तक 'प्राब्लम टीचर' : यानी जो शिक्षक खेद की एक समस्या है : में वे कहते हैं—"सच्चा शिक्षक सच्चा दानी होता है। वह अपने को निरन्तर देता है। वह जो कुछ देता है, उसका स्वरूप है प्रेम। प्रेम यानी सराहना, दोस्ती। प्रेम वह प्रकाश है, जिसे पाकर बच्चा पनपता है और शासन वह अँधेरा है, जिससे बच्चा डरता है और उसका विकास बन्द हो जाता है। वह आजाद और सुखी नहीं बनता।"

इसलिए शिक्षक के लिए सब से पहली आवश्यता है कि वह बच्चों का सच्चा प्रेमी और सुहृद हो और यह प्रेम उसमें सहजात हो, लेकिन सिर्फ बच्चों के प्रेम से ही वह सच्चा

शिक्षक नहीं बन सकता। सभी बड़े कामों के लिए जिस तरह साधना की आवश्यकता होती है, सच्चा सेवक बनने के लिए भी वैसी ही साधना और तपस्या की आवश्यकता है।

सब से पहले उसके दिल में, जो बच्चों के लिए स्वाभाविक प्रेम है, उसे ज्ञान के प्रकाश से सच्चा और शुद्ध बनाना है; इसलिए बच्चों की मनोवृत्ति समझने के लिए इन्हें बाल मानसशास्त्र के शास्त्रीय ज्ञान की जरूरत है। जिस तरह चिकित्सा-शास्त्र के शास्त्रीय ज्ञान के बिना कोई चिकित्सक नहीं बन सकता उसी तरह बाल-मानसशास्त्र के शास्त्रीय ज्ञान के बिना कोई शिक्षक नहीं बन सकता।

बच्चे को जो सिखाना है, शिक्षक को उस ज्ञान की जरूरत है। उसके बारे में नील कहते हैं कि शिक्षक कोई एक खास विषय में विशेषज्ञ न होकर सब विषयों में थोड़ा-थोड़ा ज्ञान रखता हो और यह ज्ञान सजीव हो; इसलिए छोटे देहाती स्कूलों के शिक्षक बड़े-बड़े हाईस्कूलों के बड़े-बड़े शिक्षकों से अच्छे निकलते हैं। हाईस्कूलों में भूगोल का शिक्षक सिर्फ भूगोल ही जानता है; लेकिन देहाती स्कूल के शिक्षक को अकेले ही सब विषय पढ़ाने पड़ते हैं और एक साथ तीन-चार दर्जे के बच्चों को सँभालना पड़ता है; इसलिए एक विषय के शिक्षक में, जो संकीर्णता आने का डर है, उससे देहाती शिक्षक बच जाता है। शिक्षक का ज्ञान बहुमुखी, सजीव और सरस होना चाहिए।

इसके बाद शिक्षक के अपने व्यक्तित्व के विकास की बात आती है; क्योंकि शिक्षक का अपना व्यक्तित्व जब तक विकसित न हो तब तक बच्चों के विकास में वह कभी सहायक नहीं हो सकता; इसलिए नील कहते हैं कि सब से पहले अपने बड़प्पन का झूठा मोह छोड़ना है। शिक्षकों को हमेशा अपने छोटे-छोटे मासूम बच्चों के साथ काम करना पड़ता है, उन के ऊपर उसका सम्पूर्ण अधिकार रहता है; इसलिए उनके सामने अपने को बड़ा सर्वज्ञ दिखलाने का मोह शिक्षकों के लिए एक भयंकर मोह है। इस मोह से बचने के लिए उन्हें सतर्क रहना है। जहाँ उन की कमजोरियाँ है, अज्ञानता है, उन्हें उनके सामने प्रकट करने में संकोच न करना चाहिए। नहीं तो शिक्षक और बच्चों के सम्बन्ध में सच्चाई नहीं रहेगी और जहाँ एक बार झूठ का प्रवेश हुआ वहाँ कभी सच्ची शिक्षा नहीं मिल सकती। आज की पूरी शिक्षा-पद्धति में गुरु-शिष्य का सम्बन्ध इसी झूठ पर प्रतिष्ठित है।

इसलिए नील बड़े जोर से शिक्षकों से कहते हैं—"सच्चे बनो, निडर बनो। अपने अन्दर जहाँ-जहाँ अँधेरे में कमजोरियाँ हैं, असत्य छिपे हुए हैं उन्हें बुद्धि के प्रकाश में खींच लाओ, उन्हें छिपाने की कोशिश न करो, उन्हें समझने की कोशिश करो, उन्हें जीतने की कोशिश करो। जो शिक्षक सच्चा है वही सच्ची पीढ़ी तैयार कर सकता है। जिसके अन्दर असत्य छिपा है, भय छिपा है, समाज का भय, परिवार का भय, इंस्पेक्टर का भय, हेडमास्टर का भय—किसी तरह का भय क्यों न हो, इससे कभी सच्ची, निडर पीढ़ी तैयार नहीं हो सकती।'

सच्चा शिक्षक वही हो सकता है, जो सच्चे होने की, निडर होने की निरन्तर साधना करे। जिसके हृदय में प्रेम हो। ऐसा प्रेम, जो ज्ञान से योगयुक्त हो। गांधीजी की भाषा में जो सत्य और अहिंसा का पुजारी हो।

और आखिर में नील कहते हैं कि हर एक शिक्षक का यह कर्तव्य है कि वह नये समाज की रचना में हाथ बँटाये। सबसे पहले वह समझ ले कि आज का समाज और राष्ट्र-व्यवस्था किस तरह असत्य और अन्याय पर प्रतिष्ठित है और आज की सारी शिक्षा-पद्धति किस तरह इसी समाज-व्यवस्था और राष्ट्र-व्यवस्था का एक अंग है; इसलिए जितने शिक्षक किसी मौजूदा पद्धति के अंग होकर शिक्षा का काम कर रहे हैं, इस असत्य की इमारत को तोड़कर इसकी जगह नयी इमारत को उठाना उनका ही काम है।

आज तक हम मानते आये हैं कि शिक्षा और राजनीति दो अलग चीजें हैं। नील यह बात नहीं मानते। वे जोरों से कहते हैं कि शिक्षक का सब से बड़ा काम तो राष्ट्र की सेवा है, समाज की सेवा है।

नील इंग्लैण्ड के शिक्षकों से—जिन्हें हम आज तक स्वतन्त्र कहते हैं—कहते हैं कि "मैं चाहता हूँ, कि आप अपने से यह सवाल पूछें कि जिस तालीम का काम आप कर रहे हैं इसमें कितनी सच्चाई है या दूसरे शब्दों में क्या हमारी जिन्दगी केवल एक झूठ तो नहीं है ?

"मैं कहता हूँ कि यह हमारे शिक्षकों का एक झूठ ही है। आनेवाली पीढ़ी की तालीम हमारे हाथ में है और हम उन्हें कोई सत्य वस्तु नहीं दे रहे हैं। हम ऐसा करते हैं, इसलिए हमने कभी शिक्षा के सवाल पर गहराई से विचार नहीं किया है। हमारा दृष्टिकोण संकीर्ण रहाहै। हम में इतनी ताकत ही नहीं रही है कि हम आगे की तरफ देखें।

"दोस्तो, अपना वक्त दशमलव भिन्न और ऐसी फिजूल बातों में जाया न करो। बच्चों को यह बतलाओ कि समाज क्या है, और जो कुछ वे देख रहे हैं इसके पीछे क्या है। शिक्षको! क्या तुम यह नहीं देख सकते कि यह तुम्हारी सारी शिक्षा-प्रणाली जमाने से बहुत पीछे है ? जो कुछ स्कूलों में पढ़ाया जा रहा है, इसका जीवन से कोई सम्बन्ध नहीं है ?

"अगर हम सच्चे हों, सच्चाई में हमारा विश्वास पक्का हो तो हमें एक साथ मिल कर इस मौजूदा तालीम की इमारत तोड़ देनी चाहिए। हमें छोटे बच्चों को आज ही से इस आनेवाली दुनिया के सच्चे और आजाद नागरिक बनने की तालीम देना शुरू कर देना चाहिए।

"लेकिन हम बच्चों को एक नयी दुनिया बनाने की आजादी किस तरह सिखा सकते हैं, जब कि हम खुद आजाद नहीं हैं ? इसलिए मैं कहता हूँ कि आपका क्षेत्र सिर्फ स्कूल की चहार-दीवारी के अन्दर नहीं है; बल्कि सारा समाज और सारा राष्ट्र ही आपका कर्म-क्षेत्र है। अपने काम के अलावा आप को अपनी सामाजिक आजादी ढूंढनी होगी। यह सच है कि आपको

अपनी सामाजिक आजादी तभी मिलेगी जब आपको अपने काम के लिए इतना प्रेम और इतना आदर हो कि आप उसी के लिए जिन्दा रहना चाहें, उसी के लिए कुर्बान होने को तैयार हों। जितनी आपकी निगाह में आपके काम की कद्र बढ़ेगी उतना ही समाज में भी आप का स्थान ऊँचा रहेगा। जब तक आप गुलाम पैदा करते रहेंगे और खुद भी गुलाम रहेंगे तब तक आप भी वैसे ही समझे जायेंगे।

"मैं भली-भाँति जानता हूँ कि हम लोग अपनी परिस्थिति के कितने गुलाम हैं। समाज में हमारी कोई कद्र नहीं, हमारे अपने में काफी शिक्षा नहीं, योग्यता नहीं, आजादी हमसे कोसों दूर है—वेतन हमें कम से कम मिलता है; लेकिन मैं यह मानने के लिए तैयार नहीं हूँ कि किसी भी करोड़पति से हम छोटे हैं। जोर से कहता हूँ कि उन के काम से हमारा काम कहीं बड़ा और कठिन है। शिक्षक, समाज के खम्भे हैं। उनका काम सब से बड़ा काम है। शिक्षकों के लिए भोग-विलास के सामान हम नहीं माँगते। हम उनके काम के लिए, उनके पेशे के लिए सम्मान चाहते हैं। उनके लिए समाज के, राष्ट्र के, और शिक्षा के नये निर्माण में अधिकार चाहते हैं।

"मैं जानता हूँ कि आज नवीन शिक्षकों में बहुत से ऐसे सच्चे दिल के भाई और बहनें हैं, जो अपनी पूरी ताकत बच्चों को सच्ची तालीम देने की कोशिश में लगा रहे हैं। आज की तालीम में और आज के समाज और राष्ट्र में जो असत्य है, उसे वह समझते हैं। उनसे मैं इतनी ही प्रार्थना करता हूँ उनके सामने कठिनाइयाँ बहुत हैं; लेकिन वे कठिनाइयों से डर कर हाथ पर हाथ रख कर कोई एक भावी आदर्श समाज या नेता की राह देखते हुए बैठे न रहें। आज से ही वे इस नयी तालीम और नयी समाज की तैयारी में लग जाँय, जहाँ हर एक बच्चे और हर एक शिक्षक को सच्चा और सुखी होने की पूरी आजादी मिले।"

नयी तालीम के शिक्षकों से भी हमारी यही प्रार्थना है।

बुनियादी शिक्षा ने जिन बुनियादी उसूलों पर जोर दिया है उनमें से सबसे महत्व का उसूल यह है कि हाथ के काम के साथ मानसिक विकास का समन्वय हो। यह एक ऐसा उसूल है, जिसे हमें प्रोत्साहन देना चाहिए। बुनियादी शिक्षा के उसूलों का नतीजा यह रहा है कि जिन्हें हम गृह-उद्योग या ग्रामोद्योग कहते हैं, उनके विकास पर भी जोर दिया गया है।

—जवाहरलाल नेहरू

देवीप्रसाद

कला-परिचय, कला-शिक्षा का एक अंग है। कला-परिचय का एक सामान्य अर्थ अपने देश की और अन्य देशों की कला-शैलियों से परिचय होना ही माना जाता है; परन्तु हम 'कला-परिचय' में केवल उतना ही नहीं; बल्कि 'कलाबोध' को अधिक महत्व का स्थान देते हैं; इसलिए प्रस्तुत चर्चा में 'कलाबोध' का निर्माण करने के लिए क्या कार्यक्रम बनाया जा सकता है और कला-शैलियों का ज्ञान, इन दोनों मुद्दों का जिक्र होगा।

कुछ उम्र होने पर करीब-करीब किशोर अवस्था में पहुँचने के समय बालकों को प्राचीन और आधुनिक कला से परिचय हो, यह जरूरी है। छोटी उम्र में न तो उसकी आवश्यकता होती है और न उससे उनके अपने कला-विकास में कोई लाभ ही होता है। हाँ, शायद कला-परिचय की दृष्टि से जरूर कुछ जानकारी होती है। बच्चों की अपनी कला पर जब मैं सोचता हूँ तो उससे अगर कुछ होता भी होगा तो वह नुकसान ही होगा। हमने देखा है कि बालक पर प्रौढ़ की कला का अच्छा प्रभाव नहीं होता ; परन्तु जब बालक किशोर अवस्था के नजदीक पहुँचता है और जब उसे बड़ों की तरह काम करने की जरूरत महसूस होती है तब उसे कला से परिचय कराना जरूरी होता है।

यह परिचय दो प्रकार से होगा। मनुष्य को प्रकृति से परिचय होना चाहिए; इसलिए कला के माध्यम से प्रकृति तक पहुँचना और प्रकृति की मदद से कला को समझना, ये दोनों रास्ते हमें अपनाने होंगे।

एक बात स्पष्ट करना चाहता हूँ। आमतौर पर जो 'आर्ट अप्रिसियेशन' 'कला-इतिहास' का शिक्षा-क्रम होता है उसमें केवल जानकारी की बात ही होती है। एक व्यक्ति

भारतीय कला का इतिहास खूब बारीकी के साथ जानता है। वह उस पर पुस्तकें भी पाण्डित्य पूर्ण लिखता है; किंतु जब वह बाजार में चित्र खरीदने जाता है तो वही कैलेण्डर वाली तसवीरें पसन्द करता है । राजपूत शैली की हर तसवीर को देख कर कह सकता है कि यह तो फलां-शैली या फलां शताब्दी की हैं; परन्तु उसकी बैठक में बाजारू तसवीरें लगी होंगी । ऐसे ज्ञान से कोई लाभ नहीं । हम तो कला-बोध चाहते हैं । सुन्दर और असुन्दर को समझने की विवेकबुद्धि हो । वह पहली नजर में ही अपने बोध के द्वारा अच्छी कलाकृति में प्रवेश कर सके, हमें ऐसी शक्ति का निर्माण करना है ।

इस तरह की शिक्षा किस प्रकार दी जा सकती है, इसके बारे में नया लिखने की हमें आवश्यकता महसूस नहीं होती । कलागुरु नन्दलाल वसु ने इसके बारे में अत्यन्त सुन्दर सुझाव दिये हैं । हम उन्हीं के शब्दों को यहाँ उद्धृत करते हैं । यह उन्होंने आज के विश्वविद्यालयों को ध्यान में रख कर कहा था । हम उन बातों को अपनी परिस्थिति और वातावरण में लागू करें तो उससे अधिक कोई सुझाव न देने पर भी यथेष्ट होगा ।

"पहली बात है—लड़कों के विद्यालयों, पुस्तकालयों में पढ़ने और रहने के कमरों में कुछ अच्छी-अच्छी मूर्तियाँ और दूसरी चारु और कारु शिल्पों के नमूने, नमूने न होने पर उनके अच्छे फोटो या प्रतिच्छवि सजा कर रखना होगा ।

"दूसरी बात है—अच्छे-अच्छे शिल्प निर्देशन के चित्र और ऐतिहासिक चित्रों से पूर्ण तथा सहज ही समझ में आनेवाली लड़कों के योग्य पुस्तकें; उपयुक्त व्यक्तियों के द्वारा यथेष्ट परिमाण में लिखानी होंगी ।

"तीसरी बात है—चित्रपट की सहायता से बीच-बीच में स्वदेश और विदेश की चुनी हुई शिल्पवस्तुओं से लड़कों को परिचय कराना होगा ।

"चौथी बात है—बीच-बीच में उपयुक्त शिक्षकों के साथ जाकर लड़के निकटस्थ संग्रहालयों तथा चित्रशालाओं में अतीत के शिल्प-कीर्ति का निर्देशन देख आया करेंगे । विश्वविद्यालयों में जब फुटबाल मैच खेलने जाने का कार्यक्रम हो सकता है तो चित्रशाला व संग्रहालय देख आना भी असम्भव नहीं होगा । इस बात को याद रखना होगा कि एक अच्छी शिल्प वस्तु को अपनी आँखों से देखने और समझने से शिल्पदृष्टि जितनी जागरित होती है उतनी भाषणों के सुनने से नहीं होती । छोटी वय से अच्छे चित्रों, मूर्तियों को देखते-देखते कुछ समझ कर, कुछ बिना समझे ही लड़कों की दृष्टि बनती रहेगी । अपने आप ही उसमें शिल्प के भले-बुरे का विचार करने की शक्ति पैदा होगी और धीरे-धीरे सौन्दर्यबोध जागृत होगा ।

"पाँचवीं बात है—प्रकृति से लड़कों का सम्बन्ध स्थापित करने के लिए भिन्न-भिन्न उत्सवों का आयोजन करना होगा । उस आयोजन में होगा—उन ऋतुओं के फल-फूलों का संग्रह,

शिल्प तथा काव्य में उन ऋतुओं के सम्बन्ध में, जो सुन्दर रचनाएँ हुई हैं उनसे यथासम्भव लड़कों का परिचय कराने की व्यवस्था।

"छठी बात है—प्रकृति में जो ऋतुउत्सव हो रहे हैं लड़कों का उनसे परिचय करा देना होगा। शरद में धान के खेत और कमल के सरोवर, वसन्त में पलाश, सेमल के फूलों को जिन्हें अपनी आँखों से देख कर आनन्द पा सकें, इसकी व्यवस्था करानी होगी। इन ऋतु उत्सवों के लिए वन-भोजन और ऋतु-उपयोगी वेष-भूषा तथा खेल-कूद की व्यवस्था करनी होगी। प्रकृति से एक बार सम्बन्ध स्थापित हो जाने पर प्रकृति से वास्तविक प्रेम करना सीख लेने पर लड़कों के हृदय में रस का उद्‌गम फिर कभी नहीं सूखेगा, क्योंकि प्रकृति ही युग-युग से शिल्पी को शिल्प सृजन का उपादान जुटाती आयी है।

"अन्तिम बात है—वर्ष के किसी समय विद्यालयों में शिल्पसृजन का एक उत्सव करना होगा। प्रत्येक विद्यार्थी को कुछ न कुछ शिल्प-वस्तु अपने हाथों से बना कर इसमें श्रद्धा के साथ सम्मिलित करना होगा। वह शिल्पवस्तु चाहे कितनी भी सामान्य क्यों न हो। लड़कों की सर्जन-शक्ति की वस्तुएँ उत्सव के अर्घ्य रूप में संग्रहित होकर सजायी रहेंगी। नृत्य, गीत, जुलूस आदि के द्वारा उत्सव को सर्वांग सुन्दर बनाने के लिए चेष्टा करनी चाहिए। उत्सव के लिए निश्चित समय ठीक कर देना कठिन है। देश-भेद से वह बदलेगा। बंगाल के लिए शरद् ऋतु उपयुक्त होती है।"

शिल्प-गुरु की ये बातें स्पष्ट करती हैं कि कला और प्रकृति में कितना सम्बन्ध है। एक दूसरे की मदद से ही दोनों समझे जा सकते हैं। इन सुझावों के द्वारा बालकों की शिक्षा तो होगी ही, शिक्षकों के लिए उन पर चिन्तन, मनन और आचरण करने से सच्चा लाभ होगा। यह दृष्टि वही शिक्षक दे सकता है, जो स्वयं उसमें रत हो या कम से कम इस तरह की साधना में लगा हो।

कलाबोध के ऊपर कहे गये पहलू के साथ अगर कला-इतिहास आदि विषयों पर ध्यान दिया जाय तो उससे लाभ ही होगा; परन्तु यह ख्याल रहे कि केवल कला का पुस्तकीय ज्ञान होने से कला द्वारा जिस तरह के व्यक्तित्व का निर्माण करने की बात सोची जाती है वैसा अल्प मात्रा में भी होना असम्भव है। वह तो सृजनात्मकता और समवेदना का विकास करने से ही निर्मित हो सकता है।

कलाबोध का निर्माण करने का एक कारगर तरीका है—व्यक्ति को वैसा काम देना, जिसमें उससे सौन्दर्य निर्माण की अपेक्षा हो। कक्षा या छात्रालय का कमरा पूरा-पूरा खाली करके नये ढंग से सजाने का काम विद्यार्थी या विद्यार्थियों की एक टोली को देना चाहिए। उपयोग की दृष्टि से कमरे का संगठन सरल हो और सजावट की दृष्टि से उसमें एकाग्र चित्र चुन कर ठीक जगह लगाना और फूलदान में ठीक ढंग से फूल सजाने तक का प्रोजेक्ट आखिर तक पूरा किया जाय। उसमें सादगी और सजावट का सामंजस्य हो। रंग-मेल की दृष्टि पर

पूरा-पूरा ध्यान दिया जाय। प्रोजेक्ट पूरा होने के बाद टोली के विद्यार्थियों से व्यक्तिगत तौर पर समालोचलना की अपेक्षा हो। साथ-साथ सब मिलकर भी समालोचना करें, जिसमें सजावट के मूल सिद्धान्तों का अच्छा विस्तार किया जा सकता है। इसी प्रकार छोटी-छोटी प्रदर्शिनियों का आयोजन उत्सव त्योहारों के समय सजावट और नाट्य-मंच आदि की सजावट में भी विद्यार्थियों को प्रोजक्ट दिये जायँ। किसी व्यक्ति या राष्ट्र की रुचि और उसके सौन्दर्य-बोध के स्तर का इस बात से भी पता चलता है कि वह वेस्ट मेटीरियल-टूटन का उपयोग कैसे कर लेता है। इस सिलसिले में दो उदाहरण सामने आते हैं। एक तो जापान का और दूसरा बंगाल की कांथा बनाने की परम्परा का। सुना है कि जापान में टूटन से अनेक प्रकार की सुन्दर से सुन्दर चीजों का निर्माण कर लेते हैं। कपड़े की कतरनों से और लकड़ी के टुकड़ों से तरह-तरह की अत्यन्त सुन्दर गुड़ियाँ बना लेना, कागज की छीजन से पेपरमेशी-कूट का काम इत्यादि वहाँ की विशेषताएँ हैं। छोटे-छोटे बाँस के टुकड़ों का इतना सुन्दर उपयोग कर लेते हैं कि देखते ही बनता है। एक छोटी सी बाँस की खमची को लेकर उसे तराश-तराश कर उस पर चित्र बना लेना आम तौर पर देखा जाता है।

इसी तरह पुरानी धोतियाँ और साड़ियों को लेकर अत्यन्त ऊँची रुचि की सुजनियाँ, काँथे बनाने की बंगाल की परम्परा भी इस बात की द्योतक है कि वहाँ की स्त्रियाँ वेस्ट मेटीरियल को अनुपम कलाकृतियों में परिणित कर सकती हैं। यही गुण कलाबोध का एक अंश बन जाना चाहिए। किसी शाला में इस तरह के वेस्ट मेटीरियल का कितना और कैसा उपयोग होता है, यह देख कर वहाँ की शिक्षा के स्तर का पता चलना चाहिए। हमारी शिक्षा में ऐसे कार्यक्रम रखे जाने चाहिए, जिनसे बालकों को इस प्रकार की वस्तुओं का कलात्मक उपयोग करने की रुचिनिर्माण हो। इसके लिए प्रदर्शिनियाँ भी रखी जा सकती हैं।

आज कल प्रोग्रेसिव शालाओं में एक और कार्यक्रम चलता है। अखबारों और पत्र-पत्रिकाओं से फोटो और चित्रों की कटिंग जमा करने का। यह विचार अच्छा है, परन्तु इससे उद्देश्य-सिद्धि तभी हो सकती है जब वह कार्यक्रम सुरुचिपूर्ण हो। जैसे-तैसे भड़कदार चित्र काटकर अलबम में रख लेने से तो रुचि अच्छी बनने के बदले बिगड़ेगी।

इस कार्यक्रम के स्पष्ट दो भाग करने चाहिए। पत्र-पत्रिकाओं में से कुछ तो ऐसे चित्र संग्रह किए जायेंगे, जो सामान्य ज्ञान-विज्ञान से सम्बन्ध रखने वाले होंगे। उनको भी अलग अलग विषयों के अनुसार अलग-अलग अलबम में सजा कर रखना चाहिए।

टेकनिकल दृष्टि के अलावा इसमें यह ध्यान रहे कि सब चित्र साफ और सुन्दर हों। इनमें अधिकतर फोटो, डायग्राम आदि होंगे। फोटो हों तो टेकनिकल दृष्टि से अच्छे होने चाहिए। उस प्रवृत्ति का दूसरा विभाग कला के दायरे का होगा। इसमें अच्छी-अच्छी चित्रकला, मूर्तिकला, वास्तुकला और दस्तकारियों के नमूनों के फोटो या प्रिंट होंगे। इसके

चुनाव के काम को करना कुछ कठिन है। कठिनाई दो कारण से है, एक तो किस चित्र को चुनना, किस को नहीं, यह काफी जानकारी के बाद सधता है; दूसरा—चित्र शायद सचमुच माना हुआ अच्छा है, पर क्या वह प्रिंट चित्र के रंग को सचाई के साथ दिखाता है या छपाई में उसके मूल रंग इतने बदल गए कि प्रायः उसके सारे गुण समाप्त ही हो गए; इसलिए इस काम के लिए विशेष प्रयत्न की आवश्यकता है। मेरा एक सुझाव इसके बारे में है। शाला में कुछ उच्च कोटि के प्रिंट हों। यह बात आसान नहीं है; क्योंकि ऐसे प्रिंट बड़े मँहगे होते हैं। हर शाला के लिए इन पर खर्च करना सम्भव नहीं हो सकता। इसके लिए सबसे अच्छा तरीका यह है कि सरकारी पैमाने पर कुछ अच्छे-अच्छे सेट संसार की अलग-अलग कला-शैलियों के स्कूलों में घूमते रहें। यह घूमती प्रदर्शिनी बीच-बीच में शिक्षकों और बालकों को देखने को मिले। यह उसका उद्देश्य है। इस तरह की परम्परा बनने के बाद जो शिक्षक स्वाध्याय करके अपने स्कूल में पत्र-पत्रिकाओं से कटिंग द्वारा प्रिंट-संग्रह करना चाहें, कर सकते हैं। उनका संग्रह सुरुचिपूर्ण होगा।

कला-इतिहास और कला के सिद्धान्तों का महत्व कम नहीं है। जगत में जो खजाना मनुष्य की कलाकृतियों का भरा पड़ा है उससे परिचय करना और उसको जानना कलाबोध के विकास में महत्वपूर्ण कदम है। इसमें विशेष ध्यान जागतिक दृष्टि की ओर रहना चाहिए। भारतीय कला का इतिहास जान लेने से काम नहीं चलेगा क्योंकि उससे संकुचित दृष्टि का ही निर्माण हो सकता है। मनुष्य ने अलग अलग देशों में, अलग-अलग परिस्थितियों में, अलग-अलग उपकरणों से अपने आन्तरिक रूप जगत को किस-किस तरह प्रकट करने की कोशिश की है यह जानना जरूरी है। बुनियाद में बात एक ही है। मनुष्य हर जगह एक ही है। उसकी आकांक्षाएँ, उसकी आनन्द प्राप्ति के रास्ते, ऊपरी ढंग से देखने में अलग अलबत्ता दिखते हैं; किन्तु उनके अन्दर एक ही दृष्टि है सौन्दर्य-निर्माण की। कहीं वह कुछ काल के लिए अधिक विकसित हुई, कहीं कुछ पिछड़ गयी; पर वह अमुक जाति या अमुक देश की होने के कारण नहीं। इस तरह के ऊपरी भेद बड़े समुद्र की अलग-अलग लहरों की तरह हैं, जिन के नीचे है महासमुद्र और वहाँ है अगाध-अनन्त मनुष्य-हृदय।

कला-इतिहास के विषय का इसी दृष्टि से अध्ययन किया जाय। यह आवश्यक है कि जो हमारे अधिक नजदीक हैं यानी ऐतिहासिक नजर से भारतीय हैं वह पहले देखा-समझा जाय। पहले का अर्थ यह नहीं कि उसे देखें और दूसरे को नहीं; पर चूँकि उसे समझना हमारे लिए सरल और स्वाभाविक है, उसे हम अच्छी तरह से समझें। अगर अपनी सांस्कृतिक बुनियाद अच्छी तरह से समझ ली जाय तो दूसरी परम्पराओं को समझना आसान हो जाता है।

बुनियादी शिक्षा और आधुनिक विचार

गोरखनाथ चौबे

हमारे देश में पढ़ाई-लिखाई का पुराना ढंग कुछ अपनी विशेषता रखता है। हम उसकी तह में जाने पर कुछ ऐसी बातें देखते हैं, जो बड़े काम की हैं और समय में वे भले ही पुरानी हों; परन्तु काम-काज में वे बिलकुल नयी हैं और आज के वैज्ञानिक युग में भी उनकी आवश्यकता है। यह हमारी भूल है कि हम इधर-उधर देश-विदेश में नयी-नयी बातों की खोज को तो देखते हैं; परन्तु उन पुरानी बातों पर नये ढंग से विचार नहीं करते। जिस देश की सभ्यता अपनी एक विशेषता रखती है उस देश के लोगों की यह प्रवृत्ति बहुत ही गलत है। स्वामी दयानन्द सरस्वती और महात्मा गांधी हमारे देश की दो ऐसी विभूतियाँ हैं, जिन्होंने हमारा ध्यान इस ओर आकर्षित किया था। उन्होंने स्पष्ट कहा है कि "भारतवासियों को अपनी उन्नति के लिए बाहरी देशों में भटकने की आवश्यकता नहीं है।" इस वाक्य पर हम ध्यान दें तो हमारी कठिनाई बहुत कुछ हल हो जाती हैं। विज्ञान की उन्नति में हम आज औरों से पीछे हैं; परन्तु ज्ञान की उन्नति में न तो हम आज पीछे हैं और न कभी पीछे रहे हैं। फिर शिक्षा के विकास में अपनी परम्पराओं पर ध्यान देकर सोचें तो हम देखेंगे कि उनमें ज्ञान और कर्म का ऐसा सुन्दर मेल है कि वह हमारी कई समस्याओं को हल कर देती हैं।

कुछ लोग जर्मनी, फ्रांस, इंगलैंड, अमेरिका, जापान, रूस आदि देशों की शिक्षा-पद्धतियों से प्रभावित हुए हैं। उन्होंने भारत सरकार को उनकी नकल का भी सुझाव दिया है। विदेशी मिशनरी कुछ स्थलों पर ऐसी संस्थाएँ चला रहे हैं, जिनमें देश के धनी-मानी तथा प्रभावशाली व्यक्ति अपने बच्चों को शिक्षा देते हैं। इसी प्रकार की शिक्षा वे सबको देने का प्रयत्न करते हैं; परन्तु इस प्रकार के लोग असलियत से दूर रहकर सोचते हैं? हम उनसे यह पूछना चाहते हैं :—

१—क्या इतनी महँगी शिक्षा भारत के करोड़ों बच्चों के लिए सम्भव है ?

२—नौकरी के अतिरिक्त क्या उसका कोई और भी उपयोग है ?

३—क्या उसमें स्वावलम्बन की भावना है ?

४—क्या उसमें भारतीय राष्ट्रीयता के तत्व हैं ?

५—क्या वह शिक्षा बेकारी की समस्या को हल करती है ?

६—क्या वह हमारे बच्चों को रहन-सहन, विचार और बोलचाल में विदेशी नहीं बनाती ?

इन प्रश्नों का उत्तर यही मिलेगा कि विदेशी ढाँचे पर चलने वाली कोई भी शिक्षा हमारे देश के लिए उपयोगी नहीं है। हमारा देश एक गरीब देश है। अभी हम अपनी खेती-बारी को भी पूरी तरह उन्नत नहीं कर सके हैं। उद्योग-धन्धों का भी प्रश्न है। हमारे गाँवों में चलने वाले उद्योग-धन्धे नष्ट हो चुके हैं। उन्हें जीवित ही नहीं करना है; बल्कि उन्हें आधुनिक रूप भी देना है। किसान आज खेती के साथ कोई उद्योग नहीं करता। इससे वह खाने को तो कुछ पैदा कर लेता है; परन्तु और चीजों के लिए दूसरों पर निर्भर करता है। उसकी गाढ़ी कमाई कपड़े, औजार, तेल, नमक आदि पदार्थों में चली जाती है। इसी से वह गरीब है। अपने बच्चे को वह ऐसी शिक्षा देता है कि वह खेती में भी उसकी मदद नहीं करता, फिर तो समस्या और भी गम्भीर हो गयी। उद्योग-धन्धे तो गये ही, खेती भी गयी। रही नौकरी, वह कितनों को मिलती है! २००० लड़कों में १० डिप्टीकलेक्टर होते हैं, बाकी का क्या होता है, इसे नहीं जानता। बिचारे घूमते-फिरते किसी तरह दफ्तरों में क्लर्क होते हैं और गरीबी का दुख भोगते हैं। यही हमारी वर्तमान शिक्षा का परिणाम है।

यही देखते हुए हमारे देश के कुछ महान विचारकों ने यह निश्चय किया है कि शिक्षा का स्वरूप बदलना आवश्यक है। हम जिस स्थिति में हैं और हमारी जैसी आवश्यकताएँ हैं उसी प्रकार की हमारी शिक्षा भी होनी चाहिए। इस दिशा में यह स्वाभाविक है कि हमारी दृष्टि अपनी प्राचीन शिक्षा-प्रणाली पर जाय। उसमें हमें कुछ काम की चीजें दिखाई पड़ती हैं। समय बदल जाने के कारण हम ज्यों की त्यों उनकी नकल नहीं कर सकते; परन्तु उसके सिद्धान्त को अमल में ला सकते हैं। वह शिक्षा स्वावलम्बी रही है; उसमें श्रम का एक विशेष स्थान रहा है; उसमें परिवार-शिक्षा की प्रमुख संस्था माना गया है; वह शिक्षा सस्ती और उपयोगी रही है; उसमें ज्ञान और कर्म का समन्वय रहा है; उसके लिए हमें किसी बाहरी साज-सज्जा की भी आवश्यकता नहीं रही है; साथ ही उसमें उच्च विचारों को स्थान रहा है। आज हम इस तरह की बातों पर काफी विचार करने लगे हैं। बुनियादी शिक्षा कि वही आधुनिक विचारधारा है। इसका श्री गणेश महात्मा गांधी ने किया है और उन्हीं के प्रभाव से वह देश में फल-फूल रही है।

हम चाहते हैं कि देश के सभी लोग शिक्षित हो जायँ। छोटे बच्चों की शिक्षा के लिए जगह-जगह स्कूल खुले हैं और खुलते जा रहे हैं। लड़कियों की शिक्षा भी बढ़ रही है। प्रौढ़ शिक्षा पर भी हम बल देने लगे हैं। कुछ लोग तो यह कहने लगे हैं कि जब तक माता-पिता शिक्षित नहीं हो जाते तब तक उनके बच्चों की शिक्षा सफल नहीं हो सकती। उनका कहना बहुत कुछ ठीक है। हम ४ या ५ घण्टे बच्चे को स्कूल में रखते हैं। इसके बाद २० घण्टे

तो वह अपने माँ-बाप से ही सीखता है। स्कूल में हम किसी बच्चे को सफाई का पाठ पढ़ाते हैं; परन्तु वह सफाई व्यवहार में तभी आवेगी जब माता-पिता घर पर उसका अवसर देंगे। इसी तरह हम बच्चे को सच्चाई और अहिंसा का पाठ पढ़ाते हैं। यदि माता-पिता इसके विपरीत कार्य करते हैं तो बच्चा क्या करेगा। परिवार भी बच्चे के लिए एक स्कूल है। पूरा परिवार जब तक किसी हद तक शिक्षित नहीं है तब तक बच्चे की शिक्षा में सुधार नहीं हो सकता; परन्तु यह सम्भव नहीं है कि हम स्कूल खोल कर माँ-बाप को पढ़ावें। परिवार को शिक्षित करने के लिए हमें कोई नयी व्यवस्था बनानी होगी। इसके लिए हमें शिक्षा का सारा स्वरूप बदलना होगा। पुस्तकें पढ़ाना और परीक्षा पास कराने वाली शिक्षा से काम नहीं बनेगा। उसका स्वरूप, उसका साहित्य, उसकी मान्यता, उसकी पद्धति—सब कुछ नयी होगी।

एक ओर हमारे बच्चे, स्कूलों में पढ़ें और दूसरी ओर हम सामाजिक शिक्षा की व्यवस्था करें—वही व्यवहारिक होगा। इसी से गृह-उद्योग और पढ़ाई-लिखाई का मेल होगा। जब यह बात मान ली जावेगी कि हम स्कूलों में जो कुछ पढ़ाते हैं वही परिवार में व्यवहार में लाते हैं तब कोई कठिनाई न होगी। तात्पर्य यह है कि हमारे देश में आज दो प्रकार की शिक्षा साथ-साथ चलानी होगी—

१—बुनियादी शिक्षा

२—सामाजिक शिक्षा

पहले प्रकार की शिक्षा तो स्कूलों में चलेगी और दूसरे प्रकार की शिक्षा स्कूल से बाहर चलेगी। उसमें छोटे-बड़े सभी शामिल होंगे। उसका उपयोग छोटी अवस्था के बाद सब के लिए एक-सा होगा; परन्तु इस पद्धति के निर्माण में काफी सोच-विचार की आवश्यकता है। सम्पूर्ण समाज अपने-अपने कार्यों में व्यस्त है। उसे शिक्षित करने के लिए उपयुक्त समय निकालना होगा। बच्चों को तो डाँट-बोलकर अध्यापक काम चला लेते हैं; किन्तु माँ-बाप, बड़े-बूढ़ों को शिक्षित करने के लिए रोचक प्रणाली चाहिए। उसमें समता की भावना हो। अध्यापक को उनका साथी बनना होगा। उसे ऐसी पद्धति अपनानी होगी, जो सबके लिए सुलभ हो और साथ ही आकर्षक भी हो। उनका साहित्य भी उन्हीं बिषयों पर आधारित होगा, जो उसके दैनिक जीवन में काम आते हैं। उसका इतिहास, भूगोल, विज्ञान, कल्पना के जगत में और नीरस न होकर सरस तथा सजीव होगा। आज इसी सामाजिक शिक्षा के निर्माण की आवश्यकता है। इसी दिशा में साहित्य और साधन चाहिए। देश की ६० प्रतिशत जनता को हमें इसी शिक्षा द्वारा ऊँचा उठाना है। बच्चों की शिक्षा भी बहुत कुछ इसी सामाजिक शिक्षा पर निर्भर है। जिस कार्य को माता-पिता अथवा परिवार के लोग आसानी से कर सकते हैं उसे हम वैसा खर्च करके और स्कूल खोलकर भी नहीं कर सकते। बच्चे को माँ-बाप परिश्रमी, सच्चा और ईमानदार बना सकते हैं। शिक्षा संस्थाएँ इस कार्य को नहीं कर सकती, ऐसा नहीं कहा जा सकता; लेकिन उनके लिए कष्ट साध्य तो होगा ही।

आज हमारे देश में परिवार को शिक्षित करने की कोई योजना नहीं है। सामाजिक शिक्षा से ही परिवार शिक्षित होंगे। इसी से देश में रुचि और जागृति होगी। ४० प्रतिशत बच्चों को तो हम स्कूल में शिक्षा दें और ६० प्रतिशत प्रौढ़ लोगों को अशिक्षित रखें, यह बात बेतुकी है। जब शिक्षा जीवन-निर्माण का साधन है तो वह सबको सुलभ होनी चाहिए। यह बात प्रायः सभी शिक्षा-शास्त्री कहते हैं कि केवल अक्षर ज्ञान शिक्षा नहीं है। किताब पढ़ लेने से ही कोई शिक्षित नहीं हो जाता। शिक्षा में जीवन की उन्नति के और भी कई तत्व हैं। सबको जागृत करने के लिए तरह-तरह के उपाय सोचने होंगे। इस दिशा में काफी सोच-विचार और खोज करने की आवश्यकता है। रामायण को सुना कर राम-चरित का उतना प्रचार नहीं हुआ है जितना रामलीला के खेल और उत्सव से हुआ है। अच्छी से अच्छी बात के प्रचार के लिए सुन्दर ढंग की खोज करनी पड़ती है। लोगों की रुचि और उनकी सुविधा का ध्यान रखना पड़ता है। किसी दबाव और आग्रह से हम लोगों को शिक्षित नहीं कर सकते। गाना, बजाना, नुमाइश, मेलें, खेलकूद, नाटक, सभाएँ, उत्सव आदि साधनों के द्वारा हम शिक्षा का प्रसार कर सकते हैं।

इसीलिए शिक्षा का प्रश्न केवल बच्चों तक ही सीमित नहीं है। इसी से काम नहीं चल जाता कि स्कूल खोल कर बच्चों को किताबी ज्ञान करा दिया जाय और उन्हें दो-एक हाथ के उद्योग सिखला दिये जाएँ। यह तो शिक्षा को बिगाड़ना है। सारी शिक्षा उद्योग पर ही आधारित होनी चाहिए और वह उद्योग उत्पादक होने चाहिए। मनोरंजन के लिए उद्योग की शिक्षा देना गलत है।

आज बुनियादी शिक्षा में विश्वास करने वाले विद्वान इसी तरह की नयी-नयी खोजों में लगे हुए हैं, जो देश में शिक्षा की समस्या को हल करें। अँग्रेजी शासन में शिक्षा का जो स्वरूप बना था वही आज भी चल रहा है। उसकी मान्यता भी है। कोई नयी पद्धति जब तक उसका स्थान नहीं ग्रहण करेगी तब तक वह चलती रहेगी। देश की सरकार भी इस प्रश्न पर गम्भीरतापूर्वक विचार कर रही है। वह चाहती है कि भारत में ऐसी शिक्षा-प्रणाली चलायी जाय, जो सब प्रकार से उपयोगी हो। चूँकि यह प्रश्न काफी कठिन है और इस पर अनेक छानबीन और अनुभव किये जा रहे हैं; इसलिए इसका कोई अन्तिम रूप हमारे सामने नहीं है। वैसे तो समाज सदैव उन्नतिशील है और इसमें शिक्षा की कोई भी पद्धति सदैव के लिए पूर्ण नहीं बन सकती। फिर भी उसकी कुछ मान्यताएँ स्थायी रह सकती हैं। किसी अच्छे सिद्धान्त को हम सदैव ऊँचा स्थान देते हैं। जो शिक्षा स्वावलम्बी हो और जिससे आचार-विचार के साथ राष्ट्र की चेतन शक्ति का प्रसार हो वह मूल रूप में स्थायी रह सकती है। सिद्धान्त दृढ़ है तो ऊपरी रूपरेखा को समय और साधन के अनुसार परिवर्तन करना कठिन नहीं होता। आज हमारी शिक्षा में, चाहे वह बुनियादी शिक्षा हो अथवा सामाजिक शिक्षा—मौखिक सिद्धान्तों और मान्यताओं का अभाव है। उसकी पूर्ति कैसे हो इस पर विचार करने की आवश्यकता है।

व्यवस्था विभाग

विषय

बुनियादी शिक्षक क्रमशः शिक्षकों और अभिभावकों के लिये दिशा-दर्शन मात्र है। इसका उद्देश्य है—समय, समय पर होने वाले शैक्षणिक परिवर्तनों की जानकारी देना, शिक्षा में फैली हुई भ्रान्तियों को दूर करना और शिक्षा के लक्ष्य एवं कार्यक्रम में स्थायित्व लाने का सतत प्रयास करना।

समय

पत्रिका का प्रत्येक अंक महीने की पहली तारीख को निकलता है। इसके लिए लेखन सामग्री हर महीने की १५वीं तारीख तक हमारे कार्यालय में 'सम्पादक बुनियादी शिक्षक' के नाम आ जाना चाहिए।

सदस्यता शुल्क

पत्रिका का वार्षिक शुल्क पाँच रुपये मात्र है, जो अग्रिम लिया जाता है। पत्रिका वी॰ पी॰ पी॰ से नहीं भेजी जाती। विशेष जानकारी के लिए कार्यालय को लिखें।

व्यवस्थापक :

बुनियादी-शिक्षक

लखनऊ

प्रकाशक

बुनियादी साहित्य प्रकाशन

लखनऊ

मुद्रक

साथी प्रेस

लखनऊ

सम्पादक मण्डल

गोरखनाथ चौबे एम० ए०

द्वारिकासिंह एम० ए०

डा० सीताराम जायसवाल

रुद्रभान : शिरीष

चित्रकार

आर० के० शर्मा 'अशेष'

चन्दा - दर

वार्षिक : ५ रुपये

मासिक : ५० नये पैसे

जिन्होंने मानव पर शासन करने की कला का अध्ययन किया है, उन्हें यह विश्वास हो गया है कि बच्चों की शिक्षा पर ही राष्ट्रों का भाग्य आधारित है और यह काम कुशल शिक्षक ही कर सकते हैं। इसलिए किसी भी राष्ट्र का प्रमुख कार्य अध्यापकों को समुचित प्रशिक्षण देना, होना चाहिए।

—अरस्तू